

तुलसी प्रज्ञा

TULSĪ PRAJÑĀ

वर्ष 28 • अंक 110 • अक्टूबर-दिसम्बर, 2000

Research Quarterly

अनुसंधान त्रैमासिकी



जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ

(मान्य विश्वविद्यालय)

आगमन होता है
लक्ष्मी का सत्य से। कीर्ति का त्याग से ॥
विद्या का अभ्यास से। बुद्धि का सत्समागम से ॥

With Best Compliments From :



KLJ GROUP OF INDUSTRIES

- ◆ Leading Manufacturer
- ◆ R and D Facilities
- ◆ Ultra-Modern Lab.
- ◆ Trusted Name
- ◆ Reliability
- ◆ Customer Satisfaction
- ◆ Continued Commitment
- ◆ 3 Decades of Experience
- ◆ Dedicated Personnel

MANUFACTURERS :

- Plasticizers (DOP, DBP(M), DIBP, DIDP, DINP, DBP, DEP, DOM, DBM, DOA, TOTM, BBP, BOP)
- All kinds of Plastic/Rubber Compounds & Master Batches
- CPW

DEALERS & IMPORTERS : - Solvents, Chemicals [HNP] & Polymers.

KLJ GROUP OF COMPANIES

KLJ POLYMERS & CHEMICALS LIMITED, DAMAN

KLJ PLASTICIZERS, SILVASSA

SILVASSA PLAST, SILVASSA

KLJ ORGANIC LIMITED, BHARUCH

KLJ COMPOUNDINGS, NEW DELHI

KLJ POLYALLOYS, SILVASSA

KUNDALIA INDUSTRIES, NEW DELHI

Social Establishments :

Sumermal Jain Public School

Sumermal Jain Eye Hospital

Head Office :

'KLJ House', 63, Rama Marg

(Najafgarh Road), New Delhi-110 015

Phone : 5459706-07-08 • Fax : 91-11-5459709, 5436264

E-mail : kljint@vsnl.com

Mumbai Office :

76, Juhu Shopping Centre, Second Floor,

Gulmohar Cross 9th Road, Juhu Scheme, Mumbai-400 049

Phone : 6244948, 6244954 • Fax : 6244009

E-mail : kljmum@bol.net.in

तुलसी प्रज्ञा

TULSI PRAJÑĀ

Research Quarterly of Jain Vishva Bharati Institute

VOL.-110

October to December, 2000

Patron

Prof. B.C. Lodha
Vice-Chancellor

Executive-Editor & Editor in Hindi Section

Dr Mumukshu Shanta Jain

English Section

Dr Jagat Ram Bhattacharyya

Editorial-Board

Dr Mahavir Raj Gelra, Jaipur

Prof. Satyaranjan Banerjee, Calcutta

Dr R.P. Poddar, Pune

Dr Gopal Bhardwaj, Jodhpur

Prof. Dayanand Bhargava, Ladnun

Dr Bachh Raj Dugar, Ladnun

Dr Hari Shankar Pandey, Ladnun

Dr J.P.N. Mishra Ladnun



Publisher :

Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun-341 306

Research Quarterly of Jain Vishva Bharati Institute

VOL.-110

OCTOBER-DECEMBER, 2000

Editor in Hindi

Dr Mumukshu Shanta Jain

Editor in English

Dr Jagat Ram Bhattacharyya

Editorial Office

Tulsī Prajñā, Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)

Ladnun-341 306, Rajasthan

Publisher : Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University),
Ladnun-341 306, Rajasthan

Printed at : Jaipur Printers Pvt. Ltd., Jaipur-302 015 (Rajasthan)

Subscription (Individuals) Annual Rs. 100, Three Year 250, Life Membership Rs. 1500/-
Subscription/Libraries) Annual Rs. 200/-

The views expressed and facts stated in this journal are those of the writers, the Editors may not agree with them.

अनुक्रमणिका / Contents

विषय	लेखक	पृष्ठ संख्या
1. सम्पादकीय	डॉ. शान्ता जैन	1
2. जरूरी है दर्शन की सीमा का विस्तार	आचार्य महाप्रज्ञ	9
3. हेमचन्द्र के प्राकृत-व्याकरण के अपभ्रंश उदाहरण-पद्यों के भाषान्तर का पुनरीक्षण	रामप्रकाश पोद्दार	14
4. अनेकान्त का आध्यात्मिक पक्ष स्याद्वादमंजरी के परिप्रेक्ष्य में	डॉ. संगीता मेहता	23
5. ऋषभायण में राज्य-व्यवस्था	समणी मंगलप्रज्ञा	29
6. जैन दर्शन में चेतना के विकास की अवधारणा	मुनि मदन कुमार	40
7. श्रावकाचार की सामाजिक उपयोगिता	डॉ. अशोक कुमार जैन	45
8. सर्वसार उपनिषद्... पद्यानुवाद	गोपाल भारद्वाज	52
9. जैन ग्रन्थों में वर्णित भगवान पार्श्व के कतिपय विचारणीय प्रसंग	डॉ. जिनेन्द्र जैन	57
10. भारतीय न्यायशास्त्र में अवयव-विमर्श	डॉ. प्रद्युम्नशाह	62
11. पाण्डुलिपि विवेकमञ्जरी प्रकरण एक अध्ययन	प्रमोद कुमार लाटा	69
12. पंचाणुव्रतों में शिक्षा मूल्य और सामयिक सन्दर्भ	प्राचार्य निहालचन्द जैन	79
13. Protection of the Environment : A Jain Perspective	Prof. B.C. Lodha	84
14. Higher Education as a Means of Social Change & Development of Scientific Temper	Prof. Musafir Singh	91
15. Human slow-wave sleep and the cerebral cortex of the brain	Dr. J.P.N. Mishra	101
16. Concept of Soul in Jainism	Sadhvi Vishrut Vibha	108
17. The Problem of Crime and Punishment : A Humanistic Approach	Dr. Anil Dhar	114

विनम्र निवेदन

भगवान् महावीर का 26सौवां जन्म कल्याणक दिवस राष्ट्रीय, अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर अहिंसक चेतना जागरण की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण प्रेरणा बनकर आ रहा है। यह एक अवसर है— पूरे जैन समाज में विचारक्रांति के साथ व्यक्तिक्रांति आए और इसके लिए हर भक्त-हृदय स्वयं के प्रति समर्पित हो, जीवन को नई पहचान दे। वार्तमानिक समस्याओं का सटीक समाधान तलाशे।

इस परिप्रेक्ष्य में 'तुलसी प्रज्ञा' भी अहिंसा और अनेकान्त से जुड़े भगवान् महावीर के जीवन-दर्शन को आप तक पहुंचा कर इस धर्मयज्ञ में स्वयं की सहभागिता देना चाहेगी। अतः सभी सुधि विद्वानों एवं लेखकों से निवेदन है कि अपने शोधपूर्ण मौलिक आलेख शीघ्र प्रेषित करें।

सधन्यवाद,

—सम्पादक

पार्श्व स्तुति संदोह

तुलसी प्रज्ञा का अभिनव विशेषांक

भगवान् पार्श्वनाथ श्रमण परम्परा के तेईसवें तीर्थंकर हैं। उनकी जितनी स्तुतियाँ, स्तवनाएँ उपलब्ध हैं, अन्य तीर्थंकरों की नहीं। 'तुलसी प्रज्ञा' का यह अंक भगवान् पार्श्व की स्तुतियों, स्तवनाओं, स्तोत्रों, दोहों, श्लोकों एवं गीतिकाओं का अनुूठा संकलन है। संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी और लोक भाषा में निबद्ध यह 'पार्श्व स्तुति संदोह' स्तुति साहित्य की परम्परा का एक पुरुषार्थी प्रयत्न कहा जा सकता है। पार्श्व स्तुतियों का एक साथ इतना बड़ा संकलन-संयोजन अन्यत्र देखने में नहीं आया। इस दृष्टि से 'तुलसी प्रज्ञा' का यह विशिष्ट विशेषांक हर जैन परिवार, संस्थान, मन्दिर एवं पुस्तकालयों के लिए संग्रहणीय है। अतः पत्रिका के सदस्य पाठकों के अतिरिक्त इस पुस्तक को सब तक पहुंचाने की व्यवस्था की गई है। इस अंक को प्राप्त किया और कराया जा सकता है—

- अपने अर्थ सौजन्य से निर्णीत विद्वानों को भेजने की व्यवस्था करके।
- पर्वों, त्यौहारों, उत्सवों, जन्म-विवाह तथा अन्य महत्वपूर्ण धार्मिक आयोजनों में भेंट स्वरूप देकर।

एक प्रति मूल्य 100/- रुपये मात्र, दस प्रतियों पर 35 प्रतिशत एवं पचास पुस्तकों से ज्यादा मँगवाने पर 40 प्रतिशत की छूट दी जाएगी।

पार्श्वनाथ-स्तुति संदोह आप अवश्य पढ़ें एवं सबको पढ़ने की प्रेरणा दें।

हम द्विजन्मा बनें

—मुमुक्षु डॉ. शाब्ता जैन

जैनधर्म सार्वभौमिक धर्म है। इसके सिद्धान्तों में मानवीय मूल्यों का योगक्षेम है। इसके आदर्शों में व्यवहार और निश्चय दोनों की पवित्रता का मूल्यांकन है। इसकी संस्कृति में सबका आत्मोदय जुड़ा है। इसकी परम्परा में प्रकृति, पदार्थ और प्राणी-सम्पूर्ण सृष्टि के प्रति सचेतन संवेदना है।

जैनधर्म किसी व्यक्ति, व्यवस्था, संगठन, संघ या सम्प्रदाय का नाम नहीं। यह अर्हतो द्वारा प्ररूपित राग-द्वेष मुक्त वीतरागता का राजमार्ग है। यह नाम, रूप, व्यक्ति, देश, काल, समय सभी सीमाओं से मुक्त आत्मधर्म है जहां आत्म-साक्षात्कार के सिवाय कोई साध्य नहीं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र के सिवाय कोई साधन नहीं और भाव-विशुद्धता के सिवाय कोई साधना नहीं।

भगवान ऋषभ से लेकर भगवान महावीर तक की सम्पूर्ण अर्हत परम्परा का यही उद्देश्य, आह्वान और उद्घोष रहा कि स्वयं को जानो, स्वयं को देखो। जैन-दर्शन आत्मकेन्द्रित दर्शन रहा, इसलिए इसका प्रचार-प्रसार भले ही विश्वव्यापी नहीं बन सका मगर सच्चाई यह है कि जिसने भी इसके गूढ़ सत्यों की अन्वेषणा की, अन्तर्प्रज्ञा से इसे समझा, यह अनुभव किया गया कि सत्य की तलाश में इस धर्म के पास अनेक प्रकाश स्तम्भ हैं जो व्यक्ति को सही दिशा दिखा सकते हैं।

जैनधर्म का मौलिक तत्त्व है- 'अप्पणा सच्च मेसेज्जा मेत्तिं भुएसु कप्पए' सत्य की खोज और मैत्री का विस्तार व्यष्टि और समष्टि दोनों से जुड़ा जीवन का शाश्वत, नियामक तत्त्व है। सत्य की खोज स्वयं से शुरू होती है— "संपिक्खए अप्पगमप्पएणं" स्वयं द्वारा स्वयं को देखो। सत्य को सिवाय स्वयं

के और कोई उपलब्ध नहीं कर सकता। सत्यान्वेषी जब सत्य के प्रति पूर्ण समर्पित हो जाता है तब उसमें सम्पूर्ण सृष्टि के प्रति मैत्री, सह-अस्तित्व, आत्मतुला का भाव सहज जाग जाता है। फिर वह कोई ऐसी गलत सोच, कर्म, संकल्प नहीं कर सकता जो औरों के हितों को हानि पहुंचा सके।

जैनधर्म की आचार-संहिता का एक सूत्र है-‘पढमं नाणं तओ दया’ पहले जानो, फिर आचरण करो। ज्ञानशून्य क्रिया और क्रियाशून्य ज्ञान दोनों ही जीवन की अपूर्ण व्याख्या है। ज्ञान के अभाव में हेय और आदेय का निर्णय नहीं होता और बिना आचरण के सही ज्ञान परिणाम तक नहीं पहुंच सकता। अतः विकास की दिशा में ज्ञान और चारित्र्य दोनों की समन्विति आवश्यक बतलाई।

जैनधर्म में जागरण का संदेश दिया गया -‘खणं जाणाहि पंडिइ’ क्षणजीवी बनो। अज्ञान और प्रमाद से मुक्त बनो। अतीत की स्मृतियों और भविष्य की कल्पनाओं से बाहर आओ, क्योंकि बिना वर्तमान में जीए कोई बड़ा आदमी नहीं बन सकता। भगवान महावीर भी महावीर तब बन पाए थे जब उन्होंने क्षण-क्षण को अप्रमत्त बनकर जागरूकता के साथ जीया। और इसीलिए जीवन भर उनका जागृतिभरा संदेश मिलता रहा-‘समयं गोयम ! मा पमाइय’ क्षणभर का भी प्रमाद मत करो।

महावीर ने कभी नहीं कहा कि तुम मेरी शरण में आ जाओ, मैं तुम्हें मुक्ति दूंगा। उन्होंने धर्म का मर्म समझाया-तुम मेरी शरण में नहीं, अपनी शरण में जाओ। तुम मुझे बाहर मत ढूँढो अन्यथा अनन्त जन्म भी कम पड़ जाएंगे। भीतर ढूँढो—भीतर में तुम स्वयं स्वयं को पाओगे।

जैनधर्म में किसी को छोटा बड़ा नहीं माना गया। ‘एक्का माणुस्स जाई, कहकर सबके अस्तित्व को समान स्वीकृति दी गई। यहां सबका सुख-दुःख समान माना गया। सबके हितों, अधिकारों और सुखों की सुरक्षा की गई। ‘एक के लिए सब और सब के लिए एक’ की समूह चेतना के विकास का प्रावधान बना। जैनधर्म इस तथ्य को स्वीकार करता है कि निश्चय जगत में ‘एकला चलो रे’ का चिन्तन सत्य है मगर व्यवहार की भूमिका पर जहां आपसी सम्बन्ध है, सम्पर्क है, संवाद है, आदान-प्रदान की परम्परा है, विचार संप्रेषण है, सहयोग, संगठन, एकता, समन्वय है वहां धर्म के परिप्रेक्ष्य में सापेक्षता का चिन्तन भी सार्थक है। इसीलिए महावीर ने कहा—परस्परोपग्रहो जीवानाम्-जीवों का परस्पर उपग्रह-सहयोग होता है। दृश्य जगत में एक के बिना दूसरे का कोई मूल्य नहीं। इसलिए सामुदायिक चेतना का विकास और धर्म के शाश्वत मूल्यों का आचरण एक ही सूत्र की दो व्याख्या है।

महावीर ने जीवन का सम्पूर्ण दर्शन दिया। हमें ऐसा दर्पण हाथ में दिया कि हम स्वयं दर्पण में अपना बिम्ब देख सकें। मगर यह हमारा अज्ञान और प्रमाद है कि हम अभी तक उन सत्यों को न समझ पाए और न जी पाए। इसलिए हमारे चारों ओर समस्याएं घिर आईं, जबकि अध्यात्म की दिशा में एक ऐसा महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया गया जो निषेधात्मक

भावों का परिष्कार ही नहीं करता, बुराइयों का प्रवेश भी रोकता है। भगवान महावीर ने कहा—‘दिआ वा राओ वा, एगवो वा परिसागवो वा, सुत्ते वा जागरमाणो वा—दिन में या रात में, अकेले में या समूह में, नींद में या जागरण में मैं वह आचरण नहीं करूंगा जो आत्मपरिधि से बाहर हो। इस एक सूत्र में कानून-कायदे, व्यवस्था, विधान, दण्ड या प्रायश्चित्त की कभी जरूरत ही नहीं पड़ती।

जैनधर्म शुद्ध निश्चय का धर्म है। यहां प्रलोभन, भय, प्रदर्शन या प्रतिदान का उपक्रम स्वीकृत नहीं होता। धर्म के लिए धार्मिक को यह कहकर तैयार नहीं किया जा सकता कि तुम पाप करोगे तो नरक मिलेगा। किसी को मारोगे, पीटोगे तो नरक में तुम्हें भी तीक्ष्ण शस्त्रों से मारा, पीटा जाएगा। तुम अच्छा कार्य करोगे तो स्वर्ग मिलेगा। तुम्हारा परलोक सुधरेगा आदि। आज का बुद्धिवादी इन सब तथ्यों से प्रभावित भी नहीं होता। वह चाहता है धर्म का परिणाम-कषायों का उपशमन हो। आग्रह से मुक्ति हो। अनासक्त चेतना का विकास हो। परार्थ और परमार्थ भावों का उदय हो। कथनी और करनी में समानता हो। व्यक्ति को जीवन में धार्मिक दीखना ही नहीं, धार्मिक होना भी चाहिए।

आज धर्म से परलोक सुधरने और मोक्ष मिलने की बात अवैज्ञानिक-सी लगती है। आज का मनुष्य धर्म का फल आज और अभी, इसी क्षण देखना/पाना चाहता है। वह मात्र पूजा, उपासना, क्रियाकाण्डों में धर्म को स्वीकृति नहीं देता है। इसलिए धर्म के परिप्रेक्ष्य में नए सिरे से पुनः सोचना होगा कि धर्म सिर्फ मन्दिरों, उपासनाओं, धर्मग्रन्थों और प्रवचनश्रवण तक सीमित और रूढ़ न हो जाए, वह सीधा जीवन के व्यवहार और आचरण से जुड़े। एक धार्मिक व्यक्ति का नैतिक होना बहुत जरूरी है। धर्म के क्षेत्र में अगुआ हो और निजी जीवन में नैतिक भी न हो तो यह धर्म की विडम्बना होगी। अतः हमारी सोच धर्म के नए-पुराने मूल्यों का समन्वय कर इसे वार्तमानिक जीवन-शैली से जोड़े।

हम इस धारणा से भी मुक्त बनें कि मात्र उपदेश से हम बदल जाएंगे, मात्र आयोजनों से कर्तव्य का निर्वहन हो जाएगा या फिर यह सोचकर बैठ जाएं कि जो आदत पड़ गई उसे बदलना अब कठिन है तो यह भावना हमें कर्मशून्य बना देगी। आशा की किरण भी छुप जाएगी सघन अन्धेरो में। हमें कार्य-कारण की परम्परा का सम्यग् ज्ञान कर परिवर्तन की दिशा में सक्रिय कदम बढ़ाना है। कार्य है तो कारण भी है, कारण है तो कार्य भी होगा। बीज में वृक्ष और वृक्ष में बीज का अस्तित्व छिपा रहता है। हमारा उपादान सदा से शुद्ध था। निमित्तों की पतों ने राग-द्वेष से उसे धुंधला कर दिया। निमित्त हट गया तो उपादान अभिव्यक्त हो गया। निमित्तों की शुद्धि का प्रयोग धर्माचरण का प्रतीक है, इस विश्वास को पुष्ट करना होगा।

आत्म-नियन्त्रण और आत्मानुशासन की प्रक्रिया से हमें स्वयं को साधना होगा। क्योंकि आज जीवन में किसी का कोई अंकुश नहीं रहा। न स्वयं की इच्छाओं पर और न राजनीति, अर्थनीति, समाजनीति पर। व्यक्ति समूह से जुड़ा है, अतः व्यक्ति और व्यवस्था

दोनों का परिष्कार अपेक्षित है। व्यक्ति के सुधार में कानून, विधि-विधान, व्यवस्था और परम्पराओं की पकड़ नहीं बदली तो व्यक्ति चाह कर भी ईमानदार, नैतिक नहीं रह सकता और व्यवस्था, कानून आदि स्वस्थ हैं, सही हैं पर व्यक्ति के सोच की, कर्म की, चाह की, लक्ष्य की दिशा सही नहीं तो वह सबको अपने रंग में रंग लेगा। इसलिए महावीर ने व्यवहार और निश्चय, द्रव्य और भाव, व्यक्ति और समूह दोनों के परिष्कार को मूल्य दिया। क्योंकि प्रशासन में गलत शासक सम्पूर्ण देश को पतनोन्मुखी बना सकता है और पतनोन्मुखी प्रजा ईमानदार शासक को सत्ता तक पहुंचने नहीं देती और पहुंच भी गया तो उसे सरकार में रहने नहीं देती।

आज हमें यदि सामुदायिक चेतना का विकास करना है तो इस उद्देश्य की सम्पूर्ति में हमें सहिष्णुता, सापेक्षता, सह अस्तित्व और सामञ्जस्य की भावना को आत्मसात करना होगा। क्योंकि सामुदायिकता वहीं खण्डित होती है जहां एक-दूसरे को समझने और सहने की तैयारी नहीं होती। अहं इतना ऊंचा उठ जाता है कि अपने सिवाय व्यक्ति किसी को सही मानने के लिए तैयार ही नहीं होता। परिणाम यह होता है कि आपसी व्यवहारों में, विचारों में और मनो में विभेदता की दीवारें खड़ी हो जाती हैं। इसलिए सहिष्णुता के अभ्यास के साथ संवेगों पर नियन्त्रण करना सीखना भी जरूरी है।

आज रोटी, मकान, कपड़े की समस्या से भी बड़ी समस्या है नैतिक चरित्र की। चाहे देश का राजनेता हो या धर्म का ठेकेदार। देश का उद्योगपति हो या वैज्ञानिक या न्यायाधीश। प्रश्न फाइलों में दर्ज राजनैतिक घोटालों का हो या मैच फिक्सिंग के अन्तहीन दौर का। अपहरण की घटनाओं में खरीद फरोख्त का सिलसिला हो या उग्रवादी आतंकवादी लोगों द्वारा निर्दोष हत्याओं का ताण्डव नृत्य। देश के चरित्र की ऐसी दयनीय दशा हो गई है कि सत्ता और सम्पदा ने जीवन मूल्यों को ताश के पत्तों की तरह खेलना शुरू कर दिया और तलाशते कानून-कायदे, अपराधियों की खोज में बिठाए गए जांच आयोग आज न अपराधी को दण्ड दे पाते हैं और न निर्दोष की झोली में न्याय और अधिकार डालते हैं। इन्सान से ज्यादा कीमत रिश्वत की हो गई। शासक हो या शासित जहां स्वार्थों की मन्दान्धता, विलासिता-सुखवाद और अहं संपोषण का प्रश्न खड़ा हुआ वहां सारे जीवन मूल्यों को ताक में रख दिया गया। यही कारण है कि आज आम आदमी का विश्वास ही उठ गया सरकार से, धर्म से और स्वयं से।

21वीं सदी के प्रारम्भ में ही भगवान महावीर की 26सौ वी जन्म जयन्ती मनाने का हमें स्वर्णिम अवसर उपलब्ध हो रहा है। यह सामान्य पर्व नहीं है। यह विचारक्रान्ति और व्यक्तिक्रान्ति का चुनौतिभरा आह्वान है। प्रमाद, अज्ञान और अहं से मुक्त होकर हमें सामुदायिक चेतना जगानी है। हमें कुछ ऐसी लकीरें खींचनी हैं जो गलत कार्यों के लिए लक्ष्मण रेखा बने और सही कार्यों के लिए आदर्श के मानक।

इस अवसर पर हमें जैनत्व की संस्कृति को उजागर करना है। जैनधर्म विश्वधर्म बन सकता है-इस कसौटी पर सिद्धान्तों की समीक्षा करनी है। हमें स्वयं को देखना है

ईमानदारी के साथ कि वास्तव में क्या हम सही मायनों में जैन हैं? क्योंकि आज मैं कौन हूँ? इस सवाल से भी ज्यादा महत्वपूर्ण यह सोचना है कि मैं कहां हूँ?

मैं जहां भी हूँ, जिस रूप में भी हूँ, क्या मैं अपने दायित्व को, सिद्धान्तों और आदर्शों को, नीतियों को निष्ठापूर्वक जी रहा हूँ?

क्या मैं जैन होने का दावा करके जैनत्व की संस्कृति को अपनी पहचान बना सका हूँ?

क्या मैं अर्थार्जन के संसाधनों के प्रति प्रामाणिक हूँ?

क्या मैं प्राणी मात्र के प्रति सह-अस्तित्व और आत्मतुला का भाव रखता हूँ?

क्या मैं परार्थवादी और सुखवादी परिवेश में अपनी आकांक्षाओं पर नियन्त्रण रखता हूँ?

क्या मैं पर्यावरण के प्रति जागरूक हूँ?

क्या औरों के अधिकारों और हितों का ख्याल रखता हूँ?

क्या मैं अन्याय और शोषण के प्रति जिहाद छेड़ने का साहस रखता हूँ?

अनेक ऐसे सवाल हैं जिनके उत्तर में सच्चे जैन होने का प्रमाण पत्र हमें मिल सकता है।

जैनदर्शन ने अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त जैसे सारभूत तत्त्व व्यक्ति को समझाये। व्यक्ति हिंसा से बचे यानी संकल्पपूर्वक निरपराध प्राणी की हिंसा न करे। क्योंकि हिंसा का जन्म परिग्रह से यानी मूर्च्छा से होता है। व्यक्ति अकेला ही सत्ता, अधिकार, वैभव, प्रतिष्ठा का सुख भोगना चाहता है और इसके लिए वह हिंसा को साधन बनाता है। हिंसा का अर्थ किसी प्राणी को मार देना ही नहीं होता बल्कि उसे सताना, अधिकारों से वंचित करना, उसके प्रति शोषण और अन्याय करना सारे निषेधात्मक भावों का मूल हिंसा से जुड़ा है। इसलिए हिंसा और परिग्रह को अलग-अलग नहीं किया जा सकता। व्यक्ति में मूर्च्छा होती है तभी संग्रह की वृत्ति जागती है। अपने और पराए की संवेदना होती है तभी व्यक्ति हिंसक, क्रूर, नृशंस, संवेदनहीन बनता है। भगवान महावीर ने सामुदायिक चेतना के विकास में अहिंसा की साधना के सूत्र दिए—व्यक्ति सह-अस्तित्व का विकास करे। सबमें स्वयं को अनुभूत करे। सबको अभय दे। संविभाग की चेतना को जागृत करे।

इसी तरह अपरिग्रह का सिद्धान्त यदि जीवन की शैली बन जाए तो आज अनेक समस्याएं स्वतः समाहित हो सकती हैं। क्योंकि आवश्यकता और उपयोगिता का विवेक, आर्थिक सन्तुलन, इच्छा-परिमाण-व्रत का स्वीकरण जीवन-शैली का प्राण तत्त्व है। अपरिग्रह सिर्फ धन-संग्रह का संयमन ही नहीं सिखाता, मन की आकांक्षाओं का सीमांकन भी करता है। इस सत्य को भी समझाता है—‘तृष्णा न जीर्णा, वयमेव जीर्णा-तृष्णा कभी तृप्त नहीं होती।

अनेकान्त सामुदायिक चेतना का शांति केन्द्र है। जैनधर्म में अनेकान्त का सिद्धान्त बहुपरिणामी सिद्धान्त है। यह शास्त्रों तक ही सीमित नहीं, जीवन का मुख्य हिस्सा बन गया है। बिना अनेकान्त न सुख, न शांति, न सन्तुलन और न सामञ्जस्य। जहां भी द्वन्द्व खड़ा होता है, यह दर्शन विरोधी युगल का सापेक्षता के साथ मूल्यांकन कर व्यक्ति को प्रश्नों के घेरे से बाहर निकाल लाता है। अनेकान्त मनुष्य में चिन्तन का अनाग्रह, वैचारिक सामञ्जस्य, प्रतिकूलताओं को सहने की क्षमता, मानसिक सन्तुलन, सापेक्ष चिन्तन जैसी गुणात्मकता उसकी निजी पहचान बनी है।

आज अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त इस अकारत्रयी को सम्यक् समझ लिया जाए तो वैयक्तिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक, नैतिक, धार्मिक सभी समस्याएं विराम पा सकती हैं। मगर अफसोस यही है कि हम सिद्धान्तों की खिड़कियों और दरवाजों को बन्द कर यूँ खड़े हैं मानो मालिक से भी ज्यादा दायित्व हम पहरेदारों का है। कहीं हवा का कोई झोंका भीतर प्रवेश न कर जाए।

यह अवसर हमें चिन्तन की प्रतिबद्धताओं, स्वीकृत अवधारणाओं से मुक्त कर सका तो खुले आकाश के नीचे खुली धरती पर खुले दिल-दिमाग से अवश्य कई ठोस निर्णय लिए जा सकेंगे।

सार्वभौम सिद्धान्तों के समवाय जैनधर्म को आज हमने विभक्तियों में बांट दिया। दिगम्बरत्व और श्वेताम्बरत्व के नाम पर अनेक मान्यताओं, पूजा-उपासनाओं, विधि-विधानों के वैविध्य को अपनी-अपनी पहचान दे दी। एक ही आकाश के नीचे हम खेमों में बंट गए। यही वजह है कि धर्म के नाम पर सम्प्रदाय खड़ा हो गया। धर्म के नाम पर धन-वैभव का प्रदर्शन शुरू हो गया। धर्म के नाम पर छुआछूत, जातिवाद की प्रतिबद्धता, उपासनाओं की आग्रही पकड़ सामने आने लगी। धर्म के नाम पर सत्ता, पद-प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि ने सिर उठा लिया। इसी धर्म की ओट में आज वैचारिक वैमनस्य फैल रहा है। साधर्मिकता खतरे में पड़ी हुई है। अपनी-अपनी मान्यताओं की सुरक्षा में हिंसा, विवाद, वैमनस्य को बढ़ावा मिल रहा है। ऐसी स्थिति में महावीर का 26सौवाँ जन्म कल्याणक दिवस मनाने का साहस तभी किया जा सकता है जब हमारा पुनर्जन्म हो। हम द्विजन्मा होकर धर्म और दर्शन को सही मायने में समझ पाएं।

एक जन्म मां के गर्भ से होता है जो सिर्फ मृत्यु पर्यन्त प्रभावी रहता है। इसमें मां-बाप से, परिवार, परिवेश और परिस्थिति से, संस्कारों और परम्पराओं से पहचान मिलती है। मगर दूसरा जन्म होता है तब इन्हीं सीमाओं के बीच अपनी स्वतंत्र पहचान लिए आदमी आता है जिसका व्यवहार, आचार, संस्कार सबकुछ बदला हुआ होता है। ब्राह्मण को द्विजन्मा कहते हैं। जब जनेऊ संस्कार होता है तब माना जाता है कि यह उसका दूसरा जन्म है। मुनि को द्विजन्मा कहा गया। संन्यास लेते समय गुरु के हाथों उसका दूसरा जन्म होता है। सम्बन्धों का संसार पीछे छूट जाता है। एक नए संसार की शुरुआत होती है। पक्षी को भी द्विजन्मा मानते हैं। क्या मनुष्य द्विजन्मा मनुष्य नहीं हो सकता ?

द्विजन्मा आदमी का भीतरी जगत बदल जाता है। इसलिए हमें महावीर की जन्मजयन्ती पर एक बार पुनः नया जन्म लेना है और वह जन्म नयी पहचान देगा सच्चे अर्थों में जैन होने की।

मगर अफसोस होता है यह देखकर कि अक्षय सम्पदा के ऊपर बैठे हुए भी हम अपने आपको भिखारी समझ रहे हैं। महावीर ने हमें स्वस्थ समाज की संरचना के लिए, व्यक्तित्व रूपान्तरण के लिए अनेक फार्मूले दिए। मंजिल तक पहुंचने के अनेक रास्ते दिखलाए, हर दिन दरवाजे पर दस्तक दी पर हम कहां जागते हैं? कहां सब कुछ सुधारने के लिए संकल्प और प्रयत्न करते हैं और कहां परिष्कार के लिए पंक्ति में सबसे पहले हम स्वयं को खड़ा करते हैं? हमारी तो सचमुच गांधी के तीन बन्दरों वाली स्थिति हो गई। सब कुछ गलत होते हुए देखकर भी हम न सुनने का, न बोलने का, न देखने का बहाना करते रहते हैं। क्या यह उदासीनता स्वयं के पैरों पर कुल्हाड़ी मारने जैसी नहीं है?

महावीर की अर्थात्मा को समझना जरूरी है। उन्हें सिर्फ भगवान बनाकर स्वयं के कुछ न होने की स्वीकृति ने हमें स्वयं की नजरों में बौना बना दिया है। विकास की सारी संभावनाएं खत्म कर दी हैं पर अब ऐसा न करें। वक्त और भाग्य के हाथों समस्याओं का समाधान सौंपकर न बैठें। महावीर के सम्यग् दर्शन और पुरुषार्थवाद के संदेश को जीवन का सच बनाएं। अन्धेरा कहां नहीं होता मगर अन्धेरा दूर होने की संभावना तो होती है सूरज के आने तक। मगर आज सूरज के उगने तक प्रतीक्षा भी कौन करता है? बिजली की चकाचौंध में दिन को रात और रात को दिन की तरह जीने का अभ्यास जो हो गया है। क्या इस सदी में महावीर जयन्ती पर यह मोहभंग नहीं करेंगे?

हम अपने सोच के पहलू को बदलें। केवल आचार-संहिता और दण्ड-संहिता हमें नहीं बदल सकती। बदल सकता है तो सिर्फ हमारा सम्यक् दर्शन, दृढ़ निश्चय और निष्ठा का बल। क्योंकि हमें विरासत में यह सच्चाई हाथ लगी है कि दुनिया की हर वस्तु, व्यक्ति, व्यवस्था, व्यवहार अनन्तधर्मात्मक है। सबमें विरोधी धर्मों का अस्तित्व है। सुख के साथ दुःख, अनुकूलता के साथ प्रतिकूलता, सद्भाव के साथ विभाव, जन्म के साथ मृत्यु इन नैसर्गिक गुणों में हमें अपना अस्तित्व सुरक्षित रखना है। अनेकान्त की भाषा में अर्जन के साथ विसर्जन भी हो। स्वार्थ के साथ परार्थ-परमार्थ भाव भी जागे। स्वयं की सुरक्षा के साथ प्राणी मात्र के हितों, अधिकारों की सुरक्षा का दायित्व भी निर्वहन हो। भोग के साथ संयम का, अधिकार के साथ संविभाग की मनोवृत्ति का, वैयक्तिक मूल्यों के साथ सामुदायिक मूल्यों का योगक्षेम, निमित्तों की खोज में उपादन तक पहुंचने का पुरुषार्थी प्रयत्न भी शुरू हो। क्योंकि सिर्फ यह सोचकर स्वयं को सही मान लेना सम्यक् नहीं होता कि जो मैं सोचता हूं वही सही है। इस एकान्त आग्रह से विवाद, हिंसा, वैमनस्य, घृणा, प्रतिशोध जैसे निषेधात्मक भावों की दीवारें खड़ी होती हैं जिसके कारण फिर हम उस पार आत्मा के स्वच्छ, व्यापक आकाश को देख तक नहीं सकते।

विचारभेद, आस्थाभेद और रुचिभेद के बावजूद आज पूरा जैन-समाज एक मंच से विचार-समन्वय की नई शुरुआत करे। यह अवसर मात्र मिडियातंत्र तक सीमित न रह जाए। समाचार पत्रों की सुर्खियों में छपकर, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय घोषणा पत्र बनकर, टी.वी. के अनेक चैनलों पर विज्ञापित होकर, ऊंचे मंचों पर बड़े लोगों के लम्बे भाषण होकर अपने दायित्व को पूर्ण विराम न लगा दें। सरकार की फाइलों में दर्ज 'अहिंसा वर्ष' का संदेश सरकार के पैरों से चलकर सब तक पहुंचे। साथ-साथ हम भी स्वयं संदेशवाहक बनें। सामुदायिक चेतना के विकास का पूरा दायित्व समाज के चन्द प्रतिष्ठित लोगों के हाथों सौंपकर सफल परिणामों की प्रतीक्षा में न खड़े रह जाएं, क्योंकि यह समय सबके सामूहिक श्रम, समय, शक्ति और सोच के जुड़ने का है। शक्ति नियोजन और समय के साथ-साथ तैयारी करने का है।

विश्वशांति और अहिंसक समाज का सपना बिना अनुसन्धान, बिना प्रयोग और बिना प्रशिक्षण के संभव नहीं होता। आचार्य श्री महाप्रज्ञ बहुधा कहा करते हैं-काम छोटा हो या बड़ा, तैयारी पूरी होनी चाहिए। शिकार भले सियार का करना है पर तैयारी सेर के शिकार जितनी हो, तभी हम मकसद तक पहुंच सकेंगे।

'महावीर जयंती' का यह अवसर पूरे जैन समाज को द्विजन्मा बनाने का समय है। बीते समय की उन खामियों को भूलाने का है जिनके परिणाम आशाजनक नहीं रहे। आइए, कुछ नया करें नयी सोच, नये प्रयत्न, नई दिशा, नये प्रस्थान के साथ ताकि यह प्रयास सबका आश्वास, विश्वास और प्रकाश बन जाए।



जरूरी है दर्शन की सीमा का विस्तार

—आचार्य महाप्रज्ञ

अचेतन कभी चेतन नहीं होता और चेतन कभी अचेतन नहीं होता—इस सार्वभौम नियम के द्वारा विश्व को देखने और उसकी व्याख्या करने का एक दृष्टिकोण है—जैन दर्शन।

सत् की अनेक व्याख्याएं हैं। तत्त्वार्थ सूत्र के रचनाकार आचार्य उमास्वाति ने सत्य की त्रयात्मक व्याख्या की है। उनके अनुसार—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की समन्विति सत् है। चेतन भी सत् है और अचेतन भी सत् है। जीव अतीत में था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा, इसका हेतु ध्रौव्य का नियम है। अपरिवर्तनीय स्वरूप की व्याख्या उसी के आधार पर की जा सकती है। उत्पाद और व्यय—यह परिवर्तन का नियम है। इसके आधार पर द्रव्य के परिवर्तनीय स्वरूप की व्याख्या की जा सकती है।

चेतन अथवा जीव, अचेतन अथवा अजीव से भिन्न है, यह अध्यात्म का मौलिक आधार है।

जीव-द्रव्य भी परिवर्तन के नियम से मुक्त नहीं हैं, इसलिए उसके नानारूप बन जाते हैं। उनमें कुछ रूप अध्यात्म के साधक हैं और कुछ बाधक। राग-द्वेष आदि बाधक तत्त्वों से मुक्ति पाने के लिए वीतरागता की साधना की जा सकती है। यह वीतरागता अध्यात्म का मौलिक स्वरूप है।

समाज की प्रवृत्ति रागात्मक है। मनुष्य के विकास का माध्यम है—इन्द्रिय-समूह। यह ज्ञानात्मक है, साथ-साथ पदार्थ-जगत के आकर्षण का माध्यम भी है। इसलिए समाज अथवा व्यक्ति की व्याख्या एकान्त दृष्टिकोण से नहीं की जा सकती।

भारतीय मनीषियों ने पदार्थवादी दृष्टिकोण को ससीम रखने के लिए आध्यात्मिक चेतना का विकास किया। जैन दर्शन में तत्त्वविद्या और अध्यात्म—दोनों परस्पर संश्लिष्ट हैं। तत्त्वविद्या से विश्व-स्थिति का यथार्थ बोध होता है। उस बोध की निष्पत्ति भौतिक विकास और आध्यात्मिक विकास—दोनों दिशाओं में हो सकती है। अनेकान्त दृष्टि के अनुसार भौतिक विकास को सर्वथा नकारा नहीं जा सकता। उसे जीवनयात्रा के पूरक तत्त्व के रूप में स्वीकृति दी गई। फलस्वरूप आध्यात्मिक विकास जीवन का लक्ष्य बन गया। सभी दर्शनों ने अध्यात्म को प्रतिष्ठित किया, वह भारतीय चिन्तन का एक अमूल्य धरोहर बन गया।

दर्शन को केवल तत्त्वविद्या तक सीमित करना उचित नहीं है। विज्ञान, अर्थशास्त्र, समाज-शास्त्र आदि दर्शन के वटवृक्ष की मात्र शाखाएं हैं। उनकी अपनी कोई जड़ नहीं है। दार्शनिक दृष्टि समाज विज्ञान और अर्थशास्त्र के लिए जितनी जरूरी है उतनी विज्ञान के लिए जरूरी है। दर्शन और विज्ञान को सर्वथा पृथक् करना दर्शन और विज्ञान दोनों के विकास में एक अवरोध है।

जैन दर्शन ने सृष्टि और सृष्टि-संचालन के लिए किसी ईश्वरीय सत्ता को स्वीकार नहीं किया है। इसलिए उसने सार्वभौम और सामयिक नियमों की खोज की है। उसी के आधार पर विश्व-व्यवस्था की व्याख्या की है।

चेतन और अचेतन में सर्वथा भिन्नता का सिद्धान्त अनेकान्त के अनुसार समीचीन नहीं है। भौतिक विज्ञान ने विश्व-व्यवस्था के अनेक नियमों की खोज की है और प्राचीनकाल में दर्शनों ने भी की। नियमों की खोज सत्य की खोज है। इसलिए हम दर्शन और विज्ञान के बीच कोई लक्ष्मण-रेखा नहीं खींच सकते। दार्शनिक जगत के चेतन और अचेतन—दोनों के नियमों की खोज की। विज्ञान जगत की खोज का अब तक मुख्य विषय है—अचेतन द्रव्य (पुद्गल द्रव्य) के नियमों की खोज।

योग और अध्यात्म दर्शन की सीमा से परे नहीं है। ये दोनों भारतीय दर्शन के मौलिक आधार हैं। नियमों की खोज के लिए स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना नितान्त आवश्यक है। योगी और अध्यात्म साधक ध्यान और समाधि के द्वारा अतीन्द्रिय चेतना का विकास कर लेते थे। उस अतीन्द्रिय चेतना के आधार पर सूक्ष्म सत्त्वों की खोज की जाती थी। वैज्ञानिक सूक्ष्म नियमों की खोज सूक्ष्म यंत्रों के माध्यम से करते हैं। आखिर प्रस्थान दोनों का सूक्ष्म की ओर है। दार्शनिक जगत के पास परीक्षण के लिए कोई प्रयोगशाला नहीं है। वैज्ञानिक को उसकी सुविधा प्राप्त है। किन्तु इस प्रसंग में हमें स्वीकार करना चाहिए कि योग और अध्यात्म के साधकों ने इन्द्रियपटुता और अतीन्द्रिय चेतना का इतना विकास किया था कि उन्हें तांत्रिक प्रयोगशाला की अपेक्षा नहीं रही।

‘गाणस्स सारमायारो’—ज्ञान का सार है-आचरण। निर्युक्तिकार का यह अभिमत दर्शन और आचार की एकता का सेतु है। ‘मूल्यपरक विज्ञान’-इसमें संगति

खोजना बहुत कठिन है। दर्शन के आधार पर आचार-संहिता का निर्माण हुआ है किन्तु विज्ञान के आधार पर कोई संहिता नहीं बनी। वैज्ञानिक नियमों की खोज तक सीमित हो गए हैं। उसका सार आचार है, यह सच्चाई उन्हें अभी मान्य नहीं है। यदि यह सच्चाई मान्य होती तो संहारक अस्त्रों का निर्माण कभी नहीं होता। प्रकृति दोहन भी नहीं होता। गरीबी को बढ़ाने वाली सुविधावादी सामग्री का केवल व्यावसायिक हित के लिए निर्माण भी नहीं किया जाता।

योग अथवा अध्यात्म का प्रमुख आधार है—अहिंसा। वह आधार भी है और आचरण भी। पर्यावरण की समस्या इसीलिए है कि समाज अहिंसा की व्यापकता का अनुभव नहीं कर रहा है। किसी प्राणी को मत मारो—यह अहिंसा की सीमा नहीं है। शस्त्र का निर्माण मत करो, यह भी उसकी सीमा नहीं है। अहिंसा का व्यापक स्वरूप है—संयम की चेतना का निर्माण। हम पर्यावरण को विशुद्ध करने और निःशस्त्रीकरण का प्रयत्न करते हैं किन्तु चेतना के रूपांतरण का प्रयत्न नहीं करते। क्या चेतना का रूपांतरण किये बना प्रकृति का अति दोहन, पर्यावरण का प्रदूषण और शस्त्रों का निर्माण रोका जा सकता है? उपभोग की चेतना का रूपांतरण किये बिना प्रकृति के अतिदोहन को रोका नहीं जा सकता?

सुविधावादी और विकास के असंतुलित दृष्टिकोण को बदले बिना, जीवन-निर्वाह के लिए अपोषक उपभोग सामग्री के उत्पादन की सीमा करने वाली मनुष्य की भावधारा ही शस्त्र-निर्माण का मूल आधार है। मनुष्य-शरीर में भाव का केन्द्र है—मस्तिष्क। शस्त्र पहले मस्तिष्क में पैदा होता है, फिर वह कारखाने में। निःशस्त्रीकरण की चर्चा बहुत सार्थक नहीं होगी।

वैज्ञानिक चिन्तन और आविष्कार के बाद विकास की अवधारणा इतनी जटिल हो गई कि पीछे लौटना भी संभव नहीं और पीछे लौटे बिना सभ्यता पर छाये हुए संकट के बादलों का बिखरना भी संभव नहीं। तकनीकी विकास पर भी विवेकपूर्ण अंकुश लगाना जरूरी है। क्या यह तकनीकी विकास उपादेय है, जो मानव की अस्मिता पर प्रश्नचिन्ह लगा रहा है। हमें मुड़कर देखना होगा कि सीमातीत तकनीकी विकास के बाद मनुष्य ने क्या खोया और क्या पाया? मानसिक शांति, तनावमुक्त मनःस्थिति एवं स्वास्थ्य पर उसका क्या प्रभाव पड़ रहा है? इसे उपेक्षित कर तकनीकी विकास को एकाधिकार प्रभुत्व नहीं दिया जा सकता।

विश्व-शांति, पूरा विश्व एक मानव-परिवार, निःशस्त्रीकरण—शब्दों का बार-बार पुनरुच्चारण होता रहता है। यदि शब्दोच्चारण मात्र से विश्व-शांति स्थापित होती तो कभी की हो जाती। इन शब्दों की पुनरावृत्ति कोई बुरी बात नहीं है, बहुत अच्छी है किन्तु इसके साथ विश्वशान्ति के बाधक तत्त्वों पर एक गंभीर चिन्तन जरूरी है। उसके बाधक तत्त्वों की एक संक्षिप्त तालिका यह हो सकती है—

- साम्राज्यवादी मनोवृत्ति
- बाजार पर प्रभुत्व
- जाति का अहंकार
- साम्प्रदायिक कट्टरता
- असीम इच्छाओं वाली मानव-प्रकृति
- उपभोग सामग्री की विषमतापूर्ण अवस्था और व्यवस्था (प्रणाली)

इनसे भी अधिक मूल कारण है—व्यक्ति का अपने संवेगों पर नियंत्रण न होना। संवेग-संतुलन के व्यापक प्रसार और प्रयोग पर गहन विचार किये बिना वैज्ञानिक युग में उपजी हुई समस्याओं का समाधान नहीं किया जा सकता।

परिष्कार के लिए शिक्षा की प्रणाली पर पुनर्विचार की आवश्यकता है। केवल हिन्दुस्तान में ही नहीं, पूरे विश्व में।

1. आजीविका की समस्या को सुलझाने के लिए।
2. सद्गति के लिए।

सद्गति का अर्थ है—जीवन मूल्यों अथवा चारित्रिक मूल्यों का विकास। इसके अभाव में समाज में सद्गति की अनुभूति नहीं होती, स्वस्थ समाज की रचना नहीं होती। जैन चिन्तन में शिक्षा के दो प्रकार बतलाए गए हैं—

1. ग्रहण-शिक्षा, 2. आसेवन-शिक्षा

गुरु अथवा शिक्षक की वाणी अथवा पुस्तक से प्राप्त होने वाला ज्ञान ग्रहण-शिक्षा है। आसेवन-शिक्षा प्रायोगिक शिक्षण है। विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में प्रायोगिक शिक्षा चालू है। किन्तु मानवीय चेतना को बदलने वाली प्रायोगिक शिक्षा विज्ञान के क्षेत्र में भी चालू नहीं है। चारित्रिक मूल्यों के विकास के लिए जरूरी है मूल्य चेतना को नियंत्रित करने वाली प्रायोगिक शिक्षा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अणुव्रत-प्रवर्तक आचार्य तुलसी के नेतृत्व में भी जीवन विज्ञान की प्रणाली विकसित की गई। चेतना का रूपान्तरण करने के लिए आसन, प्राणायाम, प्रेक्षाध्यान, कायोत्सर्ग, भावना और अनुप्रेक्षा—इनका प्रायोगिक अभ्यास नितान्त अपेक्षित है। यह विज्ञान के छात्र के लिए भी उतना ही आवश्यक है जितना कला-संकाय के छात्रों के लिए।

पदार्थभिमुखता भौतिकवाद का एक प्रमुख लक्षण है। वर्तमान युग में उसका स्थान तकनीकी अभिमुखता ने ले लिया है। यदि उसकी सीमाएं निर्धारित न की जाएं तो सांस्कृतिक मूल्यों को बचाना संभव नहीं। उन मूल्यों की सुरक्षा के लिए दर्शन की सीमाओं का विस्तार करना होगा। आज का दार्शनिक चिन्तन युग की समस्याओं को सुलझाने का कोई नया चिन्तन प्रस्तुत नहीं कर रहा है, इसलिए विज्ञान का एकाधिकार और प्रभुत्व स्थापित हो रहा है।

प्रत्येक द्रव्य के अनंत पर्याय हैं। हम उनमें कुछ पर्यायों को जानते हैं। इसीलिए द्रव्य ज्ञेय कम और अज्ञेय अधिक हैं। अज्ञात पर्यायों को ज्ञान बनाने के लिए निरंतर खोज की जरूरत है। दर्शन में एक प्रकार का ठहराव आ गया है। वह अपने पूर्वज दार्शनिकों द्वारा खोजे गए सत्यांशों (नय दृष्टि) को परिपूर्ण सत्य मानकर संतोष की सांस ले रहा है। जीवविज्ञान, कर्मवाद, भाग्यवाद, पुरुषार्थवाद आदि की मान्यताओं पर विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में विचार करना बहुत आवश्यक है। विज्ञान-जगत में जो सूक्ष्म नियमों की खोज हुई है, उनका दार्शनिक दृष्टि से अंकन करना बहुत जरूरी है। गरीबी, शोषण, अपराध, बीमारी, हत्या, आत्महत्या, भ्रूणहत्या, आतंकवादी मनोवृत्ति—क्या ये दर्शन के चिन्तन बिन्दु नहीं हैं? हम विज्ञान की उस गति का समर्थन नहीं कर सकते जिसके द्वारा खोजे हुए नियम विश्व के सामने एक संकट पैदा किये हुए हैं। हम दर्शन के द्वारा खोजे गए उन नियमों को विस्तार देने का प्रयत्न करें जो विश्व को मैत्री के सूत्र में बांध सकें। महावीर-वाणी का एक महत्वपूर्ण सूक्त इस दिशा में इंगित कर रहा है—

‘अप्पणा सच्चमेसेज्जा मेत्ति भूएसु कप्पए’—स्वयं सत्य खोजें, सबके साथ मैत्री करें।

विज्ञान की सीमा वस्तु (ऑब्जेक्ट) है। दर्शन-चेतना (सब्जेक्ट) प्रधान है। विज्ञान को चेतना में घटित घटना मान्य नहीं है और दर्शन का पदार्थ में घटित होने वाली घटनाओं से संबंध नहीं है। इसीलिए इन दोनों की पारस्परिकता पूरकता का विकास होना चाहिए। इससे वैश्विक समस्याओं के समाधान में बहुत बड़ा योग मिल सकता है।

विज्ञान के तकनीकी विकास में हमें एक सुलभता और प्रदान की है जो दर्शन एवं अध्यात्म-साधना के द्वारा प्रदत्त वृत्ति-परिष्कार की पद्धतियों का वस्तुनिष्ठ अंकन कर उनकी उपादेयता को और अधिक आधारभूत बना सकती है। उदाहरणार्थ—अमुक-अमुक ध्यान प्रणाली द्वारा चित्त की चंचलता या शरीर का तनाव या भावों का परिष्कार घटित होता है या नहीं—इसे वस्तुनिष्ठ रूप में अंकित करने वाले उपलब्ध वैज्ञानिक उपकरणों के माध्यम से पूर्ण वैज्ञानिक विधि-सम्मत परीक्षणों द्वारा मानव-जाति की अनेक समस्याओं का समाधान निर्धारित किया जा सकता है। यदि ऐसे प्रयोग एवं परीक्षण शिक्षा के क्षेत्र में उपलब्ध करवाए जाएं तो असीम भोग-वृत्ति से उत्पन्न हिंसा, विषमता, वंचना आदि को न्यून करने की दिशा में एक निर्णायक प्रतिकार की क्रियान्विति की जा सकती है। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो दर्शन (अध्यात्म) को आनुप्रायोगिक दर्शन (Applied Philosophy) का वह रूप दिया जा सकता है जो सर्व कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है।

हेमचन्द्र के प्राकृत-व्याकरण के अपभ्रंश उदाहरण-पद्यों के भाषान्तर का पुनरीक्षण

— रामप्रकाश पोद्दार

हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण के चतुर्थ परिच्छेद में सूत्र संख्या 329 से 448 पर्यन्त अपभ्रंश का व्याकरण दिया है। इसके अन्तर्गत उदाहरण के रूप में अपभ्रंश के 176 पद्य आए हैं, जो प्रायः दोहा और गाथा छन्दों में हैं। इन उदाहरण-पद्यों की समग्रता में अपभ्रंश मुक्तक काव्य का एक अच्छा-सा नमूना मिलता है।

हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट के द्वारा कुमारपालचरित के परिशिष्ट के रूप में सन् 1936 में प्रकाशित किया गया। बाद में इसका पृथक् पुनर्मुद्रण होता रहा और हाल का पुनर्मुद्रण 1980 ईसवी का है।

इस संस्करण के सम्पादक, डॉ. पी.एल. वैद्य ने पुस्तक के अन्त में अंग्रेजी में संक्षिप्त टिप्पणियां दी हैं। इन टिप्पणियों में अपभ्रंश उदाहरण-पद्यों की संस्कृत छाया के अतिरिक्त अंग्रेजी भाषान्तर भी दिए गए हैं। उदाहरण-पद्यों को समझने में यह भाषान्तर बहुत उपयोगी है। परन्तु 1936 से आज तक अपभ्रंश का अभ्यास बहुत आगे बढ़ा है और स्थान-स्थान पर डॉ. वैद्य के भाषान्तर पर पुनः विचार करने की आवश्यकता प्रतीत होती है ; आखिर नई पीढ़ी को डॉ. वैद्य के समुन्नत स्कन्ध से उचक कर देखने का अवसर प्राप्त है, इसलिए इस दिशा में प्रयास व्यर्थ नहीं होना चाहिए।

नीचे कुछ उदाहरण-पद्य संस्कृत छाया और डॉ. वैद्य के भाषान्तर (हिन्दी में अनूदित) के साथ उद्धृत किए जा रहे हैं और संशोधन के अवकाश का निर्देश करते हुए संशोधित हिन्दी रूपान्तर विचारार्थ प्रस्तुत किए जा रहे हैं :-

(क) सूत्र 341 उदाहरण -पद्य-क्रमांङ्क 1

गिरिहें सिलायलु तरुहे फलु घेप्पड़ नीसावँनु ।
घरु मेल्लेप्पिणु माणुसहं तो वि न रुच्चड़ रनु ॥

छाया

गिरे: शिलातलं तरो: फलं गृह्यते नि:सामान्यम् ।
गृहं मुक्त्वा मनुष्याणं तथापि न रोचते अरण्यम् ॥

भाषान्तर

“(लेटने के लिए) पर्वत से शिलातल और (खाने के लिए) वृक्ष से फल कोई भी बिना किसी भेदभाव के पा सकता है; फिर भी घर छोड़ने पर लोग अरण्य को पसन्द नहीं करते।”

यहाँ ‘नीसावँनु’ की छाया ‘नि:सामान्यम्’ और फिर इसके भाषान्तर ‘बिना किसी भेदभाव के’ पर फिर से विचार करने की आवश्यकता है। यद्यपि छाया ध्वनि-परिवर्तन के नियम के अनुकूल है, फिर भी इसका अर्थ ‘बिना किसी भेदभाव के’ करना दूरान्वय है, अलबत्ते इसका अर्थ ‘बिना किसी साझेदार के’ हो सकता है। यह अर्थ भी प्रसंगानुकूल होगा। फिर ‘नीसावँनु’ की छाया ‘नि:सपत्नम्’ भी कर सकते हैं। यहाँ यह बाधा अवश्य है कि ध्वनि-परिवर्तन के नियमानुसार ‘नि:सपत्नम्’ का प्राकृत रूप ‘नीसवत्तं’ है (पिसेल 276)। पर नियत से ईषत् व्यतिक्रम अपभ्रंश में अग्राह्य नहीं होना चाहिए। और यदि नियम का वैसा आग्रह हो तो इसे ‘नि:सापत्न्यम्’ से निष्पन्न किया जा सकता है, अर्थ वही रहेगा, ‘बिना किसी हिस्सेदार के’। यद्यपि यह अर्थ उपर्युक्त तीनों तत्सम शब्दों से आ सकता है तथापि यहाँ अधिक प्रचलित होने के कारण, ‘नि:सपत्नम्’ ही ग्राह्य प्रतीत होता है। तदनुसार विचाराधीन पद्य का भाषान्तर इस तरह किया जा सकता है—

“(सोने-बैठने के लिए) पर्वत से शिलातल और (खाने के लिए) वृक्ष से फल, (वहाँ) बिना किसी साझेदार के मिल जाते हैं; (फिर भी) घर छोड़कर अरण्य की ओर लोगों की रुचि नहीं होती है।”¹

(ख) सूत्र संख्या 349 उदाहरण-पद्य-क्रमांक 1

निअ-मुह-करहें वि मुद्ध कर अंधारड़ पडिपेक्खड़ ।
ससि-मण्डल-चंदिमए पुणु काइँ न दूरे देक्खड़ ॥

छाया

निजमुखकरै: अपि मुग्धा करं अन्धकारे प्रतिप्रेक्षते ।
शशिमण्डलचन्द्रिकया पुन: किं न दूरे पश्यति ॥

भाषान्तर

“सुन्दरी अन्धरे में अपने मुखचन्द्र के प्रकाश से अपना हाथ देख लेती है; फिर वह पूर्णचन्द्र के प्रकाश में दूरस्थ वस्तु को क्यों न देखे।”

यहाँ पिशेल के सुझाव के अनुसार 'कर' के स्थान पाठान्तर 'किर' उपयुक्त है। फिर 'पडिपेक्खइ' और 'देक्खइ' दोनों क्रियाओं को कर्मवाच्य में मानते हुए निम्नलिखित रूप से पद्य का भाषान्तर किया जा सकता है—“मुग्धा अपने चन्द्रमुख की किरणों के कारण अंधेरे में भी दिख जाती है; फिर वह पूर्णचन्द्र की चाँदनी में दूर से क्यों नहीं दिखती?” व्यङ्ग्यार्थ है - क्योंकि वह चाँदनी में खो जाती है।²

(ग) सूत्र 365 उदाहरण - पद्य - क्रमाङ्क - 3

आयहो दद्वकलेवरहो, जं वाहिउ तं सारु।
जइ उद्वब्भइ तो कुहइ, अह डज्जइ तो छारु॥

छाया

अस्य दग्धकलेवरस्य यद् वाहितं (=लब्धं) तत्सारम्।
यदि आच्छाद्यते तत्कुत्थयति, यदि दह्यते तत्क्षारः॥

भाषान्तर

“इस दग्ध देह से जो कुछ भी लब्ध हुआ वह सर्वोत्तम है, गाड़ने पर इससे दुर्गन्ध आती है और जलाने पर राख हो जाती है।”

यहाँ, 'वाहिउ < वाहित < वाह=निर्वहन कराना, भार आदि ढोलवाना, किसी कार्य में लगाना', प्रसंगानुकूल है और, 'लब्ध < लभ् =प्राप्त करना', से इसे प्रतिस्थापित करने की आवश्यकता है नहीं। इस अर्थ में इसका प्रयोग 'तवसंधि' पद्य क्रमाङ्क 20 में मिलता है। 'जिणि वाहिअ वेआवच्चि देह', 'जिसने अपनी देह को सेवाकार्य में लगाया'। तदनुसार उपर्युक्त पद्य का सीधा अर्थ यह प्रतीत होता है—

“इस दग्ध देह से (जीवनकाल में) जो काम लिया, वही इसका सार है, (मरने पर) यदि गाड़ी गई तो यह महकती है और यदि जलाई गई तो राख हो जाती है।” (भाव यह कि मरणान्तर इसका कोई मूल्य नहीं रह जाता जैसा कि अजादि पशुओं का मांस, अस्थि, चर्म आदि के रूप में रह जाता है।)

(घ) सूत्र 377 उदाहरण पद्य-क्रमाङ्क 1

मइं जाणिउं पिअ विरहिअहं क वि धर होइ विआलि।
णवर मियंकु वि तह तवइ जिह दिणयरु खय-गालि॥

छाया

मया ज्ञातं प्रिय विरहितानां कापि धरा भवति विकाले।
केवलं (=परं) मृगाङ्गोऽपि तथा तपति यथा दिनकरः क्षयकाले॥

भाषान्तर

“प्रिय! मैंने सोचा कि विरहियों को सन्ध्याकाल में कोई सहारा मिल जाता है; परन्तु दिन की समाप्ति पर चन्द्रमा भी (मुझे) वैसे ही तड़पा रहा है जैसे कि दिन में सूर्य।”

यहाँ 'पिअ' और 'विरहिअहं' को यदि मिला दिया जाय और 'खय-गालि' का अर्थ 'प्रलयकाल में' किया जाय तो पद्य का काव्यात्मक चमत्कार बढ़ जाता है ; अर्थ होगा—

“मैंने सोचा था कि प्रिय से वियुक्तों को (शायद) संध्याकाल में कोई सहारा मिल जाय; परन्तु लो, यह चन्द्र तो वैसा तप रहा है जैसा प्रलयकाल का सूर्य।”

(ड़) सूत्र 394 उदाहरण पद्य-क्रमाङ्क 5

अम्मि पओहर वज्जमा निच्चु जे सम्मुह थंति ।
महु कन्तहो समरङ्गणइ गय-घड भज्जिउ जन्ति ।

छाया

अम्ब पयोधरौ वज्रमयौ नित्यं यौ संमुखौ तिष्ठतः ।
मम कान्तस्य समराङ्गणके गजघटाः भङ्क्तुं यातः

भाषान्तर

“ओ मां! मेरे पयोधर वज्रमय हैं, तभी तो वे नित्य मेरे कान्त का सामना करते हैं और युद्ध-भूमि में गजघटा को विच्छिन्न करने जाते हैं।”

यहाँ पयोधरों का युद्धभूमि में गजघटा को विच्छिन्न करने जाना विसंगत लगता है। अच्छा हो कि ‘गय-घड’ का अर्थ ‘गज-घटा’ के स्थान पर ‘गज-घट’ = ‘हाथी का कुम्भस्थल’ किया जाय।

अतिशयोक्ति-प्रवण अपभ्रंश कवि प्रायः कामिनी के पयोधरों की उपमा ‘करिकुम्भ’ से देते हैं, ‘करिकुम्भ-पिहुत्थणु’ (चंदप्पहचरिउ 7.8.7) ‘गयघट भंजिउ जंति’ को निर्विभक्तिक षष्ठी पदसमूह मानते हुए³ ‘महु कंतहो से इसका अन्वय किया जा सकता है।’ तब इस पद्य का अर्थ होगा :—

“ओ माँ! मेरे पयोधर वज्रमय हैं, तभी तो ये नित्य समराङ्गण में करिकुम्भ को विदीर्ण करने के लिए जाने वाले मेरे कांत के सम्मुख डटते हैं।”

(च) सूत्र 396 उदाहरण-पद्य-क्रमाङ्क (1)

जं दिट्ठुं सोमग्गहणु, असईहिं हसिउं निसकु ।
पिअ-माणुस-विच्छोह-गरु, गिलि-गिलि राहु मयंकु ॥

छाया

यद् दृष्टं सोमग्रहणमसतीभिः हसितं निः शङ्कम् ।
प्रियमनुष्यविक्षोभकरं गिल गिल राहो मृगाङ्कम् ॥

भाषान्तर

“जब असती स्त्रियों ने चन्द्रग्रहण देखा तो वे निःशङ्क हसीं (और बोलीं) ‘अरे राहु, निगल जाओ इस चन्द्र को जो प्रियजन को विक्षुब्ध करता है’।”

यहाँ ‘विच्छोह’ का अर्थ ‘वियोग’ किया जाना चाहिए। देशीनाममाला (7.62) में यह अर्थ दिया हुआ है। चन्द्र, विशेषतः पूर्णचन्द्र असतियों के स्वच्छन्द रात्रि-विहार में बाधक होता है (मिलाइए : ‘असईणं दूहओ चंदो’, वज्जा 98 और, ‘ता ससहर उइयउ तहिं जिरवणे, असइयणे दुहु पयडंतु मणे’ करकंडु चरिउ 10.9.8)। इसलिए असतियाँ चन्द्र को ‘पिअमाणुसविच्छोहगरु’, ‘प्रियजन से वियोग कराने वाला’ कहती हैं; और अब जब राहु पूर्णचन्द्र को निगल रहा है तो वे राहु की पीठ ठोक रही हैं। पूरा पद्य निम्नलिखित रूप से अनूदित किया जा सकता है—

“सोमग्रहण जो देखा तो असतियाँ निःशङ्क होकर हसीं, (और कहा) ‘हे राहु! (अच्छा किया) प्रियजन से वियोग कराने वाले इस चन्द्र को निगल जाओ।’”

(छ) सूत्र 401 उदाहरण-पद्य-क्रमाङ्क 4

भण सहि निहुअउँ तेवँ मड़, जड़ पिउ दिडु सदोस ।
जेवँ न जाणइ मज्जु मणु, पक्खावडिअं तासु ॥

छाया

भण सखि निभृतकं तथा मयि यदि प्रियः दृष्टः सदोषः
यथा न जानाति मम मनः पक्षापतितं तस्य ॥

भाषान्तर

“सखि, तू ने यदि मेरे प्रेमी को मेरे प्रति सदोष पाया है तो मुझे चुपचाप बता दो; इस तरह कहो कि वह जान भी न पाये कि मेरा मन उसका पक्ष लेता है यानि मैं उसके प्रेम में पगी हूँ।”

यहाँ एक सखि दूसरी सखि से बोल रही है; प्रेमी के जानने या न जानने का प्रश्न ही नहीं उठता। वस्तुतः यहाँ उक्ति में विरोधाभास अलंकार का प्रयोग किया गया है। सखि कहती है, ‘इस तरह कहो कि स्वयं मेरा मन भी न जाने।’ पूरे पद्य का अनुवाद इस तरह किया जा सकता है—

“सखि ! यदि तूने प्रिय को सदोष (अन्यासक्त) पाया है, तो मुझे चुपचाप बता दो; इस तरह बताना कि उसका पक्षपाती मेरा यह मन जान न पाये (क्योंकि अब यह माननेवाला है नहीं)।”⁵

(ज) सूत्र 404 उदाहरणपद्य-क्रमाङ्क 1

जड़ सो घडदि प्रयावदी केत्थु वि लेप्पिणि सिक्खु ।
जेत्थु वि तेत्थु वि एत्थु जगि भण तो तहि सारिक्खु ॥

छाया

यदि स घटयति प्रजापतिः कुत्रापि लात्वा शिक्षाम् ।
यत्रापि तत्रापि अत्र जगति भण तदा तस्याः सदृक्षीम् ॥

भाषान्तर

“यदि प्रजापति कहीं से शिक्षा लेकर निर्माण करता है तो वह संसार में उसके सदृश कोई अन्य बना सकता है।”

भाषान्तर में मूल की दूसरी पंक्ति में आया हुआ ‘भण’ शब्द गौण है। पूरी दूसरी पंक्ति प्रश्न के रूप में है। निम्नलिखित रूप से भाषान्तर करना अच्छा है—

“यदि प्रजापति कहीं से शिक्षा लेकर (किसी आदर्श के आधार पर) निर्माण करता है तो संसार में यहाँ वहाँ कहीं उसका सादृश्य बताओ। (चूँकि कहीं उसका प्रतिरूप नहीं है, इसलिए वह किसी आदर्श पर घटित नहीं है, अपूर्व और अद्वितीय है)।”⁶

(झ) सूत्र 406 उदाहरण पद्य-क्रमाङ्क 3

जामहिं विसमी कज्ज-गई जीवहँ मज्जे एइ ।
तामहिं अच्छउ इयरु जणु सुअणु वि अन्तरु देइ ॥

छाया

यावत् विसमा कार्यगतिः जीवानां मध्ये आयाति ।
तावदास्तामितरः जनः सुजनोऽप्यन्तरं ददाति ॥

भाषान्तर

“जब बुरे दिन आते हैं तो सामान्य जनों की कौन कहे, सुजन भी प्रतिकूल हो जाते हैं।”

यहाँ ‘सुअणु’ को ‘स्वजन’ करना अधिक प्रसंगाकूल लगता है। ‘सुमिण/सुविण, सुसा’ आदि शब्दों में ‘स्व’ का ‘सु’ हुआ है। अतः प्रकृत ‘सुअणु’ का तत्सम रूप ‘स्वजन’ माना जा सकता है।; प्रयोग भी मिलते हैं, यथा:— ‘अच्छंतु निरन्तरनेहगळभसब्भावसुंदरा सुयणा’ आख्यानकर्मणकोश 91-200; पुरानी हिन्दी (अवधी) में भी ‘स्वजन’ का ‘सुजन’ हुआ है। मिलाइये, ‘और निबाहेहु भायप भाई, करि पितु-मातु सुजन सेवकाई’ (रामचरितमानस 2.153.3)। यह परिवर्तन करने पर अर्थ होगा—

“जब लोगों के (शब्दानुसार जीवों के) बुरे दिन आते हैं, तब और तो और, अपने भी पराये (शब्दानुसार दूरस्थ) हो जाते हैं।”

(ज) सूत्र 418 उदाहरण पद्य-क्रमांङ्क 5

लोणु विलिज्जइ पाणिण अरि खल मेह म गज्जु ।

वालितु गलइ सु झुम्पडा गोरी तिम्मइ अज्जु ॥

छाया

लवणं विलीयते पानीयेन अरे खल मेघ मा गर्ज ।

ज्वालितं गलति तत्कुटीरकं गौरी तिम्बति अद्य ॥

भाषान्तर

“लवण (लावण्य) पानी पड़ने से गल जाता है; अरे दुष्ट घन गरजो मत; झोंपड़ी जली हुई है, इसका छप्पर चूणा और भीतर बैठी वह लावण्यवती, आज भींग सकती है।”

यहाँ बादल के गरजने से विरहाग्नि का प्रदीप्त होना, उससे झोंपड़ी का जलना और फिर चूना व्यंग्य है जिसे स्फुट करते हुए पद्य निम्नलिखित रूप से अनूदित किया जा सकता है—

“पानी पड़ने से लवण का विलय हो जाता है; अरे खल मेघ (अब और) गरजो मत। (वर्षाकाल के आगमन से प्रदीप्त विरहाग्नि में) (अंशतः) जला हुआ छप्पर चूता है, गोरी आज भींग रही है (उसका लावण्य विलीन हो रहा है)।”

(ट) सूत्र 420 उदाहरण पद्य-क्रमांङ्क 2

हरि नच्चाविउ पङ्गणइ, विम्हइ पाडिउ लोउ ।

एम्बहिं राह-पओहरहं, जं भावइ तं होउ ॥

छाया

हरिः नर्तितः प्राङ्गणे विस्मये पातितः लोकः ।

इदानीं राधापयोधरयोः यत् (प्रति-) भाति तद् भवतु ॥

भाषान्तर

“हरि को प्राङ्गण में नचाया गया; लोग विस्मय-विमुग्ध हुए, अब राधा के पयोधरों को कुछ भी हो सकता है।”

भाषान्तर में पद्य की दूसरी पंक्ति अस्पष्ट रह जाती है। पाइअ-सद्-महण्णवो में ‘भाव’ का एक अर्थ ‘पसन्द होना’ ‘उचित मालूम होना’ किया गया है और उदाहरण प्रकृत प्रयोग का भी दिया गया है। तदनुसार पद्य का भाषान्तर निम्नलिखित रूप से किया जा सकता है—

“हरि को (गोपियों के द्वारा) प्राङ्गण में नचाया गया; लोग विस्मय-विमुग्ध हुए; अब राधा के पयोधरों को जो रुचे सो हो (व्यंग्य यह हो सकता है कि उन्हें हरि का आर्लिगन प्राप्त हो)।”

(ठ) सूत्र 420 उदाहरण पद्य-क्रमाङ्क 3

साव-सलोनी गोरडी नवखी क वि विस-गण्ठि ।

भडु पच्चलिओ सो मरइ जासु न लगइ कण्ठि ।

छाया

सर्वसलावण्या गौरी नवा कापि विषग्रन्थिः ।

भटः प्रत्युत स म्रियते यस्य न लगति कण्ठे ॥

भाषान्तर

“यह सर्वाङ्ग-सुन्दर गौरी मानो ताजा विषग्रन्थि (बचनाग) है; परन्तु यदि यह उसके गले लगी नहीं तो वह बाँका मर जायगा।”

यहाँ ‘साव-सलोनी’ का तत्सम ‘सर्वसलावण्या’ किया गया है। परन्तु इसे ‘श्यामा-सलावण्या’ से भी निष्पन्न किया जा सकता है, ‘म’ ‘व’ व्याकरण-सम्मत है, (देखें हेमचन्द्र-प्राकृतव्याकरण 4.397)। ‘साम-सलोना’ या ‘श्याम-सलोना’ कृष्ण के लिए बहुधा प्रयुक्त विशेषण है-‘हे श्याम-सलोने तुझे मीरा पुकारती।’ कवि ने अपनी नायिका के लिए इसके स्त्रीलिंग रूप का प्रयोग किया है। फिर ‘श्यामा’ की विशिष्टता विश्रुत है-‘दर्शनीयतमा श्यामा नारीनामिति दर्शनम्’ (बृहत्कथा श्लोकसंग्रह 28.15); और, ‘शीतकाले भवेदुष्णा, ग्रीष्मे च सुखशीतला। सर्वावयवशोभाढ्या, सा श्यामा प्रकीर्तिता ॥’ (बालप्रबोधिनी पृ. 630) इस परिप्रेक्ष्य में यहाँ ‘साव’ का ‘सामा’ ‘श्यामा’ करना अनुचित नहीं है। ‘गोरडी’ शब्दानुसार ‘गौर वर्ण की स्त्री’ है। पर इसका अर्थ व्यापक हो गया है और किसी सुन्दर स्त्री को इसके द्वारा अभिहित किया जा सकता है। ‘विसगण्ठि’ ‘बचनाग’ की ग्रन्थि नहीं है; बल्कि, यह कोई भी ‘नवखी’, अनोखी विषग्रन्थि है। इसका अनोखापन यह है कि अन्य विषग्रन्थि गले में लगने पर (खाये जाने पर) मारती है, यह उलटे गले में नहीं लगने पर (प्रेमिका के रूप में नहीं मिलने पर) मार डालती है। ‘भडु’, ‘भटः’ नहीं है; इसे मनचले युवक के लिए व्यंग्य से प्रयुक्त ‘बटु’ शब्द का अपभ्रंश रूप मानना चाहिए, बटु > बडु > भडु⁸। इन सुझावों के आलोक में पद्य का अनुवाद निम्नलिखित रूप से किया जा सकता है—

“श्याम-सलोनी गोरी कोई अनोखी विषग्रन्थि है, क्योंकि इससे उलटे वह मनचला छोकरा मरता है जिसके कण्ठ से यह लगती नहीं है (जबकि सामान्य विषग्रन्थि उसे मारती है जिसके कण्ठ से वह लगती है अर्थात् जो इसे खा लेता है)।”

(ड) सूत्र 423 उदाहरण पद्य-क्रमाङ्क 1

मइँ जाणितुं बुडीसु हउँ पेम्म-द्रहि हुहुरु त्ति ।
नवरि अचिन्तिय संपडिय विप्पिय-नाव झड त्ति ॥

छाया

मया ज्ञातं मंक्ष्यामि अहं प्रेमहृदे हुहुरुशब्दं कृत्वा ।
केवलं अचिन्तिता संपतिता विप्रियनौः झटिति ॥

भाषान्तर

“मैंने समझा कि प्रेम-रूपी हृद में मैं ‘हुहुरु’ शब्द के साथ डूब जाऊँगा, परन्तु अकस्मात् मुझे नाव मिल गई-वियोग का दुःखद समाचार मिला।”

यहाँ ‘विप्रिय’ का अर्थ, ‘रति-कलह’, ईर्ष्यादि के कारण प्रेमियों के बीच का पारस्परिक तनाव या मन-मुटाव करना अच्छा होगा। तदनुसार दूसरी पंक्ति का भाषान्तर होगा-‘सहसा हमें रति-कलह के कारण मन-मुटाव की नाव मिल गई, जिसके बारे में सोचा भी नहीं था।’

(ढ) सूत्र 423 उदाहरण पद्य-क्रमाङ्क 2

खज्जइ नउ कसरक्केहि, पिज्जइ नउ घुण्टेहिं ।
एम्बइ होइ सुहच्छडी, पिए दिट्ठे नयणेहिं ॥

छाया

खाद्यते न कसरत्कशब्दं कृत्वा, पीयते न घुटशब्दं कृत्वा ।
एवमपि भवति सुखासिका प्रिये दृष्टे नयनाभ्याम् ॥

भाषान्तर

“जब प्रेमी आंखों से देखा जाता है तो कोई (प्रेमिका) न ‘कसरक्क’ ध्वनि के साथ खायी जाती है और न वह ‘घुण्ट’ ध्वनि के साथ पीयी जाती है, फिर भी इसमें आनन्द और सुख मिलता है।”

भाषान्तर में मानों लीक झूट गई। पद का भाव यह है कि जब प्रिय नयनों से देखा जाता है तब खाने-पीने की शारीरिक क्रिया के बिना ही इसमें खाने-पीने का सुख-संतोष मिलता है। मिलाइए, अंग्रेजी का प्रयोग to feast one’s eyes on somebody और मृच्छकटिकम् (4.4.6)-‘अदिसिणिद्धाए णिच्चलदिट्ठीए आपिवन्ती विअ एदं णिज्जाअदि’, तथा ‘(तं) पपौ निमेषालसपक्षमपंक्तिः उपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम्’ रघुवंश 2.19; ‘सुहच्छडी’ को ‘सुख-क्षरी’, ‘सुख की झरी’ किया जा सकता है। तदनुसार पद्य का अनुवाद होगा—

“खाया पर बिना ‘कसरक्क’⁹ ध्वनि के; पीया पर बिना ‘घुण्ट’¹⁰ ध्वनि के; प्रिय को नयनों से निहारने पर इसी तरह सुख की झरी होती है।”

(ण) सूत्र 429 उदाहरण पद्य-क्रमाङ्क 1

विरहाणल-जाल-करालिअउ पहिउ पन्थि जं दिद्धउ ।
तं मेलवि सव्वहिं पन्थिअहिं सो जि किअउ अग्गिट्टउ ॥

छाया

विरहानलज्वालाकरालितः पथिकः पथि यद् दृष्टः ।
तद् मिलित्वा सर्वैः पथिकैः स एव कृतः अग्निष्ठः ॥

भाषान्तर

“विरहानल की ज्वाला से घिरा हुआ पथिक जब मिला तब अन्य सभी पथिकों ने मिलकर उसे अग्नि को सुपुर्द कर दिया (क्योंकि वह मर चुका था)।”

यहाँ ‘अग्गिट्ट’ < ‘अग्निष्ठ’ का भाषान्तर ‘अग्नि को सुपुर्द’ किया गया है। पाइअ-सद्-महण्णवो में भी इसी प्रयोग के आधार पर इस शब्द का यही अर्थ किया गया है। परन्तु यह ‘अग्गिट्टाण’ ‘अग्निस्थान’ का संकुचित रूप हो सकता है (मिलाइए, हिन्दी ‘अंगीठी’)। पालि में ‘अग्निस्थान’ के लिए ‘अग्गिट्टाण’ और ‘अग्गिट्ट’ दोनों रूप मिलते हैं (मिलाइए, ‘अग्गिट्टं परिमज्जंतं इसिसिगं उपागमी ति’ (जातक V.155)।

‘अग्गिट्टं < अग्निस्थानकं’ के इस अर्थ के साथ पूरे पद्य का अनुवाद इस तरह किया जा सकता है—

“जब विरहाग्नि की ज्वाला से दहकता हुआ पथिक रास्ते पर मिला तब अन्य सबों ने मिलकर उसे अंगीठी बना लिया (अर्थात् शीत दूर करने के लिए चारों ओर से उसे तापने लगे)।” अतिशयोक्ति को हास्य की सीमा तक ले जाना अपभ्रंश में कोई नई बात नहीं है।

टिप्पणियाँ

1. स्वयम्भूक्त पउमचरिउ में अनेक बार णीसावण्ण, व्वण्णु, शब्द का प्रयोग मिलता है (देखें, 4.5 (3-5) ; 8.4.9 घत्ता; 2.7.9; 41.12.2; 57.12.2). टिप्पण में अर्थ कहीं ‘द्वितीय प्रभुरहित’ और कहीं ‘समस्त’ किया गया है। डॉ. भयाणी का सुझाव शब्द को ‘निःसामान्यम्’ से निष्पन्न करने का है। इन सभी प्रसंगों में भी ऊपर प्रस्तावित ‘निःसपत्तम्/निःसापत्त्यम्’ मजे से खपता है।
2. मिलाइए-‘यावदन्यैव सा कापि नारीरूपैव चन्द्रिका’ बृहत्कथाश्लोकसंग्रह 13.43.
3. जंत+स्वराणां स्वराः=जंति, निर्विभक्तिक षष्ठी, हेमचन्द्र. 4.345.
4. मिलाइए, ‘जीवहु जंत ण कुडि गइय’ पाहुडदोहा-52 जहाँ ‘जंत’ षष्ठ्यंत ‘जीवहु’ का विशेषण है।
5. मिलाइए, केलीअ वि रूसे उं ण तीए तम्मि चक्क-विणअम्मि ।
जाइअएहिं. व माए इमेहिं अवसेहिं अंगेहिं ॥ गाथासप्तशती 2.95 (बसक)।
6. मिलाइए :-पयावइणो चेव पगारिसो एस, जेण अविज्जमाणपडिच्छंदा एसा विणिम्मिया ।
पुहवीचंदचरिउ, पृ. 5 पं. 5.
7. पुरोहसुया । तप्पुरवडुरागोढा—उपदेशपद 713
8. ब > भ के लिए द्रष्टव्य हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण 2.137; बृहस्पति भयस्सई, भयप्फई, और बिम्बसार > भिभसार, भंभसार।
9. मिलाइए :-हिन्दी ‘सुरकना’;
10. मिलाइए :- हिन्दी ‘घुँट-घुँट कर पीना’।

अनेकान्त का आध्यात्मिक पक्ष स्याद्वादमंजरी के परिप्रेक्ष्य में

—डॉ. संगीता मेहता

वैचारिक विकास का चरमबिन्दु, अज्ञान तिमिर के लिये ज्ञानरूपी सूर्य, निराश मानव जाति के लिये संजीवनी, भारतीय संस्कृति की गरिमा का प्रतीक और विश्व शान्ति का मूल मंत्र प्रकारान्तर से ये सभी अनेकान्त के पर्याय हैं।

‘अनेके अन्ताः यस्यास्तौ अनेकान्तः’ जिसमें अनेक अन्त अर्थात् धर्म विद्यमान हो वह अनेकान्त है। दीपक से काला अंजन, जलमय मेघ से बिजली रूप अग्नि तथा जल से परिपूर्ण समुद्र में प्रकट वाइवाग्नि वस्तु में विद्यमान विरोधी धर्म है।¹ वस्तु प्रतिसमय अपने पूर्व रूप को छोड़कर नवीन रूप धारण करती है। एक ही वस्तु में सत्-असत् दोनों रूप विद्यमान होते हैं।² प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा नास्ति रूप है। अतः अनन्त धर्मात्मक वस्तु का स्वरूप ही अनेकान्त है और वस्तु के अनेकान्त स्वरूप को समझाने वाली सापेक्ष कथन पद्धति स्याद्वाद है।³ स्याद्वाद स्यात् और वाद इन दो पदों के योग से बना है। स्यात् शब्द एक ऐसा सजग प्रहरी है जो शब्द की मर्यादा को सन्तुलित रखता है। सत्य का दर्शन स्याद्वाद की पृष्ठभूमि पर ही हो सकता है।

अनेकान्त और स्याद्वाद जैन दर्शन की आधारशिला है। भारतीय दर्शन के समन्वय की संयोजक कड़ी है। अनेकान्त वाद के दो रूप विकसित दृष्टिगत होते हैं—नयवाद और सप्तभंगी। विचार की विभिन्न पद्धतियों का समन्वय नयवाद करता है और सप्तभंगी किसी वस्तु के विषय में प्रचलित विरोधी कथनों का समन्वय करता है।⁴

अनेकान्त विश्वव्यापी है। अनेकान्त तथा स्याद्वाद के समकक्ष विचार जैनेतर भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शनों में भी परिलक्षित होते हैं। यथा ऋग्वेद में नासदासीन सदासीतदानीम् (10.129.1) ईशावास्य, कठ प्रश्न, श्वेताश्वर आदि उपनिषदों में अनेक विरोधी गुणों की अपेक्षा से ब्रह्म का वर्णन किया है कि वह हिलता है और हिलता भी नहीं है। वह अणु है और बड़े से बड़ा है। वह उत्पन्न होता है, वह उत्पन्न नहीं होता है। वह दूर है, वह पास है। वह सत् है, वह असत् है।⁵

वेदान्त में अनिर्वचनीयवाद⁶, कुमारिल भट्ट का सापेक्षवाद, बौद्ध का मध्यमार्गी⁷ आदि सिद्धान्त स्याद्वाद के समकक्ष विचारों का समर्थन करते हैं।⁸ ग्रीक में इलियाटिक्स सम्प्रदाय ने जगत को नित्य तथा हैरीक्लीटियन ने जगत को परिवर्तनशील माना। एम्पीडोक्लीज, एटोमिस्ट्स और एनेक्सागोरस दार्शनिकों ने उपर्युक्त दोनों मतों का समन्वय करते हुए उनमें आपेक्षिक परिवर्तन स्वीकार किया।⁹ महान् विचारक प्लेटो ने भी इसी प्रकार के विचार प्रकट किये।¹⁰ जर्मन तत्त्ववेत्ता हेगल ने विरुद्धधर्मात्मकता को संसार का मूल कहा है।¹¹

ब्रैडले का विश्वास है कि हर वस्तु दूसरी वस्तु की तुलना में आवश्यक भी है और तुच्छ भी है। हर विचार में सत्य है, चाहे वह कितना ही झूठ हो, हर सत्ता में वास्तविकता है, चाहे वह कितनी ही तुच्छ हो।¹² आधुनिक दार्शनिक ओअचिम का कहना है, कोई भी विचार स्वतः ही दूसरे विचार से अनपेक्षित होकर केवल अपनी ही अपेक्षा से सत्य नहीं कहा जा सकता।¹³ प्रसिद्ध वैज्ञानिक अलबर्ट आइन्स्टीन ने अपने सापेक्षता-सिद्धान्त द्वारा स्याद्वाद दृष्टि का ही समर्थन किया है।¹⁴ मानसशास्त्रवेत्ता प्रो. विलियम जेम्स ने लिखा है, हमारी अनेक दुनिया है। साधारण मनुष्य इन सब दुनियाओं का एक दूसरे से असम्बद्ध तथा अनपेक्षित रूप से ज्ञान करता है। पूर्ण तत्त्ववेत्ता वही है जो सम्पूर्ण दुनिया को एक दूसरे से सम्बद्ध और अनपेक्षित रूप में जानता है।¹⁵ इसी प्रकार के विचार पेरी¹⁶, नैयायिक जोसेफ, एडमण्ड होम्स¹⁷ प्रभृति विद्वानों ने भी प्रकट किये हैं।¹⁸

उक्त विचारधारणें उतनी प्राचीन नहीं हैं जितना कि जैनधर्म। इस दृष्टि से अनेकान्त रूपी वृक्ष की ये शाखाएं हैं जो पृथक्-पृथक् रूपों में फैली हैं। अत्यन्त दुःख का विषय है कि औदार्य के चरमबिन्दु पर पहुंच कर सत्य का पोषण करने वाले अनेकान्त दर्शन का जैनेतर विद्वानों ने खण्डन का प्रयास किया। बादरायण ने नैकस्मिन् असम्भवात् (6.2.33) सूत्र की रचना की। इस पर शंकर, रामानुज से लेकर डॉ. राधाकृष्णन एवं पं. बलदेव उपाध्याय आदि ने दिग्भ्रमित भाष्य लिखे।¹⁹ वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति प्रज्ञाकरगुप्त, अर्चट, शान्तिरक्षित आदि प्रभावशाली बौद्धों ने अनेकान्त पर निर्मम प्रहार किये।²⁰ तब आत्मरक्षार्थ जैन विचारकों ने अनेकान्त को तार्किक दृष्टि से व्यवस्थित किया।

आज से सहस्रों वर्षों पूर्व आगम ग्रन्थों में विकीर्ण अनेकान्त और स्याद्वाद के बीजों की सिद्धसेन तथा समन्तभद्र प्रभृति जैन दार्शनिकों ने विपुल वाङ्मय का प्रणयन किया। जैन तत्त्वमनीषी कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य प्रणीत अन्ययोगव्यवच्छेदिका द्वात्रिंशिकाख्यं नामक स्तोत्र में गूढ़ दार्शनिक तत्त्वों की सरल अभिव्यक्ति का उत्तम निदर्शन है। इसके 32 पद्यों में अन्य योगों का व्यवच्छेद अर्थात् अन्य दर्शनों के मतों का खण्डन किया गया है। न्याय-वैशेषिक, मीमांसा-वेदान्त, सांख्य-बौद्ध और चार्वाक आदि दर्शनों की समीक्षा कर

अनेकान्तवाद का दृढ़तापूर्वक समर्थन किया है। इसके 21 से 29 पद्य तक 9 पद्यों में अनेकान्त की व्याख्या की है। हेमचन्द्र के इस स्तोत्र के गूढ़ दार्शनिक तत्वों को उद्घाटित करने के उद्देश्य से मल्लिषेनाचार्य ने इस पर स्याद्वादमंजरी नामक टीका ग्रन्थ की रचना की।

अनेक वृक्षों से पुष्प चुनने के समान अनेक दर्शन सम्बन्धी शास्त्रों से प्रमेयों को चुनचुन कर निःसन्देह मल्लिषेण सूरि ने स्याद्वादमंजरी नामक माला गूथ कर जैन न्याय को समलंकृत किया। स्याद्वादमंजरी को जैन दर्शन और न्याय की विकट एवं गहन अटवी से निकालकर न केवल विश्राम योग्य, सर्वांगसुन्दर आधुनिक उपवन की उपमा से विभूषित किया अपितु साहित्य का एक अंश भी कहा है।²¹ इसमें दर्शन और साहित्य का मणिकांचन संयोग है। स्याद्वादमंजरी पर उपाध्याय यशोविजयजी ने स्याद्वादमंजूषा नामक वृत्ति की रचना भी की है।²²

स्याद्वादमंजरी में मल्लिषेनाचार्य ने एकान्तवादी दार्शनिकों के मतों का खण्डन कर एकान्त का मण्डन किया है।

वेदान्ती वस्तुतत्त्व को सर्वथा नित्य मानते हैं तथा बौद्ध प्रत्येक वस्तु को सर्वथा क्षणिक बताते हैं किन्तु जैन मतानुसार वस्तु में उत्पत्ति और नाश दोनों की स्थिति है। उत्पत्ति और नाश दोनों स्थितियों के होने पर भी हमें वस्तु की स्थिरता का आभास होता है। अतः द्रव्य की अपेक्षा से वस्तु-नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परस्पर कथंचित् भिन्न होकर भी सापेक्ष है। जिस प्रकार नाश और स्थिति के बिना केवल उत्पाद सम्भव नहीं है, उसी प्रकार उत्पाद और नाश के बिना स्थिति भी सम्भव नहीं है। अतः उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ही वस्तु का लक्षण है। इस प्रकार वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। ऐसा न मानने पर वस्तु में वस्तुत्व सिद्ध नहीं हो सकता। जो नहीं होता वह सत् भी नहीं होता। अतः जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल षड्द्रव्यों में अनन्त स्वीकार करना चाहिये। इसकी अवहेलना करने वाला उन्मत्त, वातग्रस्त तथा पिशाचग्रस्त की भांति है।²³

प्रमाणवाक्य और नयवाक्य से वस्तु में अनन्त धर्म की सिद्धि होती है। प्रमाणवाक्य को सकलादेश तथा नयवाक्य को विकलादेश कहते हैं। पदार्थ के धर्मों का काल, आत्मरूप, अर्थसम्बन्ध, उपकार, गुणिदेश, संसर्ग और शब्द की अपेक्षा अभेद कथन करना सकलादेश है तथा काल, आत्मरूप आदि की भेद विवक्षा से पदार्थ के धर्मों का प्रतिपादन करना विकलादेश है। स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिनास्ति, स्यादवक्तव्य, स्यादस्तिवक्तव्य, स्यादस्तिनास्ति वक्तव्य और स्यादस्ति-नास्तिअवक्तव्य के भेद से सकलादेश और विकलादेश प्रमाण सप्तभंगी और नयसप्तभंगी के भेद से सात-सात भंगी में विभक्त है। यथा—

इयं च सप्तभंगी प्रतिभंगं सकलादेश स्वभवा विकलादेश स्वभवा।²⁴

जीव को दृष्टिगत रखते हुए सप्तभंग इस प्रकार है—

1. स्यादस्ति जीव : जीव किसी अपेक्षा से अस्तिरूप ही है। इस भंग में द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता तथा पर्यायार्थिक नय की गौणता है। स्यादस्त्यैव जीवः का अर्थ है कि जीव अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से विद्यमान है और परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा नहीं है। यदि जीव अपने द्रव्यादि की अपेक्षा से अस्ति रूप और दूसरे द्रव्यादि की अपेक्षा से नास्तिरूप न हो तो जीव का स्वरूप नहीं बन सकता।

2. स्यान्नास्ति जीव : किसी अपेक्षा से जीव नास्तिरूप ही है। इस भंग में पर्यायार्थिक नय की मुख्यता और द्रव्यार्थिक नय की गौणता है। जीव परसत्ता के अभाव की अपेक्षा को मुख्य करके नास्तिक रूप हैं। यदि पदार्थ में परसत्ता का अभाव नहीं माना जाय तो समस्त पदार्थ एक रूप ही हो जायेगा। कोई भी वस्तु सर्वथा भाव या अभाव रूप नहीं हो सकती, अतः भाव और अभाव को सापेक्ष ही मानना चाहिये।

3. स्यादस्ति च नास्ति च जीव : जीव कथंचिद् अस्ति और नास्ति स्वरूप है। इसमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयों की प्रधानता है। जिस समय वक्ता के अस्ति और नास्ति दोनों धर्मों का कथन करने की विवक्षा होती है उस समय इस भंग का व्यवहार होता है।

4. स्यादवक्तव्य जीव : जीव कथंचित् अवक्तव्य ही है। इस भंग में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयों की अप्रधानता है। जिस नय की जहां विवक्षा हो वह नय वहां प्रधान तथा जिस नय की जहां विवक्षा नहीं होती वह नय वहां गौण होता है। प्रथम भंग में जीव के अस्तित्व की मुख्यता थी तथा द्वितीय भंग में नास्तित्व की मुख्यता है। अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मों की मुख्यता से जीव का एक साथ कथन सम्भव नहीं है, क्योंकि एक शब्द से अनेक गुणों का निरूपण सम्भव नहीं। इसलिये अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मों की अपेक्षा से जीव कथंचित् अवक्तव्य है।

5. स्यादस्ति च अवक्तव्यश्च जीव : जीव कथंचित् अस्ति रूप और अवक्तव्य रूप है। इस नय में द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता तथा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय की अप्रधानता है। जीवत्व और मनुष्यत्व की अपेक्षा से आत्मा अस्तिरूप है तथा द्रव्य सामान्य और पर्याय सामान्य की अपेक्षा वस्तु के भाव और अवस्तु के अभाव के एक साथ अभेद की अपेक्षा आत्मा अवक्तव्य है।

6. स्यान्नास्ति च अवक्तव्यश्च जीव : जीव कथंचित् नास्ति और अवक्तव्य रूप है। इस भंग में पर्यायार्थिक नय की प्रधानता और द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों की अप्रधानता है। जीव पर्याय की अपेक्षा से नास्ति रूप है तथा अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मों की एक साथ अभेद विवक्षा से अवक्तव्य स्वरूप है।

7. स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्यश्च जीव : जीव कथंचिद् अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य रूप है। जीव द्रव्य की अपेक्षा अस्ति, पर्याय की अपेक्षा नास्ति और द्रव्य पर्याय दोनों की एक साथ अपेक्षा से अवक्तव्य रूप है।

इस प्रकार सप्तभंगी के प्ररूपण से वस्तु के अनेकान्तात्मक होने का ज्ञान सुखपूर्वक होता है। अतः आचार्य मल्लिषेण कहते हैं— अनेकान्तात्मकत्वं च सप्तभंगी प्ररूपेण सुखोन्नेयं स्यादिति सापि निरूपिता।²⁴

इस सप्तभंगीवाद में कुछ विपक्षियों ने विरोध, वैयाधिकरण्य, अनवस्था, संकर, व्यतिकर, संशय, अप्रतिपत्ति और अभाव नामक आठ दोष बताये हैं। आचार्य मल्लिषेण इनका समाधान करते हुए कहते हैं कि स्याद्वादियों के मत में स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा वस्तु में अस्तित्व है और परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से नास्तित्व है। वस्तु में अस्तित्व और नास्तित्व परस्पर विरुद्ध धर्मों की कल्पना किसी

अपेक्षा को लेकर की जाती है। जिस अपेक्षा में वस्तु में अस्तित्व होता है उसी अपेक्षा से वस्तु में नास्तित्व नहीं है। इसीलिये सप्तभंगी नय में उपर्युक्त आठ दोषों के लिये स्थान ही नहीं रहता है।²⁵

द्रव्यार्थिक की अपेक्षा वस्तु नित्य, सामान्य, अवाच्य और सत् है तथा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अनित्य, विशेष, वाच्य और असत् है। अतः नित्य अनित्यवाद, सामान्य-विशेषवाद, वाच्य-अवाच्यत्व तथा सद्-असद्वाद इन चार वादों का स्याद्वाद में समावेश हो जाता है।

प्रत्येक दर्शन नयवाद में गर्भित होता है। वस्तु के स्वरूप की पुष्टि के लिये न्याय-वैशेषिक केवल 'नैगम नय' को मानते हैं। अद्वैतवाद और सांख्य केवल 'संग्रह-नय' को स्वीकार करते हैं। चार्वाक 'व्यवहार नय' को, बौद्ध-ऋजु नय को तथा वैवाकरण केवल 'शब्द नय' को ही मानते हैं। ये सभी दर्शन एकान्तवादी हैं। जैन-दर्शन के अनुसार वस्तु अनन्त धर्मात्मक है और नीयते परिच्छिद्यते एकदेश विशिष्टोऽर्थः। आभिरिति नीतयो नयाः²⁶ के अनुसार जिससे पदार्थों का एक अंश जाना जाता हो उसे नय कहते हैं। अतः अनन्तधर्मा वस्तु को समझाने के लिये जितने तरह के वचन होते हैं उतने ही नय सम्भव हैं। जैनदर्शन में सामान्य रूप से नैगम संग्रह, व्यवहार, ऋजु-सूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत से नय के सात भेद बताये हैं तथा पदार्थ ज्ञान के लिये नय दुर्नय तथा प्रमाण को आवश्यक बताया है। इस प्रकार जैन दर्शन का नयवाद व्यापक है तथा उपर्युक्त सभी एकान्तियों के नय का इसमें अन्तर्भाव है।

भावाभाव, द्वैताद्वैत, नित्यानित्य आदि एकान्तवादों में सुख-दुःख, पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष आदि की व्यवस्था नहीं होती है। अनेकान्त को स्वीकार करने पर ही इनकी स्थिति स्पष्ट हो जाती है। जहां एक ओर एकान्तवादी एक दूसरे के मतों में दोष सिद्ध कर परस्पर खण्डन करते हैं तो दूसरी ओर स्याद्वाद सभी मिथ्यादर्शन रूप एकान्तवादों का समन्वय करता है। आचार्य मल्लिषेण ने स्याद्वाद मंजरी में जीवों के अनन्त्यवाद को भी लिख दिया है।

अन्त में ग्रन्थाकार का जयघोष करते हुए कहते हैं कि सम्पूर्ण एकान्तवादों का समन्वय करने वाले अनेकान्त से ही जगत का उद्धार सम्भव है।²⁷

संसार का प्रत्येक कण अनन्त धर्मात्मक है। वस्तुतः विरोध वस्तु में नहीं है, विरोध तो हमारी दृष्टि में है। आवश्यकता है कि हमें अपनी दृष्टि को निर्मल और व्यापक बनाना चाहिए। अनेकान्त का आध्यात्मिक दृष्टि से चिन्तन कर वस्तु शब्द से आत्मा का अर्थ ग्रहण करना चाहिये। अनेकान्त दृष्टि से आत्मतत्त्व को समझकर अपनी आत्मा के उत्थान का मार्ग प्रशस्त करना चाहिये।

अनेकान्त और स्याद्वाद आत्मशान्ति के साथ विश्वशान्ति का प्रतिष्ठापक सिद्धान्त है। ऐतिहासिक विद्वान् और राष्ट्रकवि रामधारीसिंह दिनकर का कथन है—

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेकान्त का अनुसन्धान भारत की अहिंसा साधना का चरमोत्कर्ष है और सारा संसार इसे जितना शीघ्र अपनायेगा, विश्व में शान्ति भी उतनी ही शीघ्र स्थापित होगी।²⁸

अंतः सम्पूर्ण नयों से विलसित विरोधों का परिहार कर वस्तु तत्त्व के यथार्थ निरूपण से समन्वय का मार्ग करने वाला अनेकान्त वन्दनीय है। सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्।²⁹

संदर्भ :

1. मुनि ज्ञानसागर-वीरोदय काव्य-19/22
 2. मुनि ज्ञानसागर-वीरोदय काव्य 19/4,5
 3. अनेकान्तात्मकायं कथनं स्याद्वादः लघीयस्त्रयं टीका
 4. डा. रामजीसिंह जैन विद्या एवं प्राकृत में प्रकाशित निबन्ध-समन्वय की साधना और जैन संस्कृति, पृष्ठ 20
 5. तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके-ईश. 5, अणोरणीयान् महतो महीयान्-कठ. 2-20 सदसच्चाप्तं च यत् पृ. 2-5
 6. प्रो. ध्रुव-स्याद्वाद मंजरी-प्रस्तावना
 7. अस्तीति काश्यपो एवं एकोऽन्तः नास्तीति काश्यपो अयं एकोऽन्तः यदनयोर्द्वयोः अन्तयोर्मध्यं तदरूप्यं अनिदर्शनः अप्रतिष्ठं अनाभासं अनिकेतं अविज्ञप्तिकं यमुच्यते काश्यपः मध्यम प्रतिपद धर्माणां। काश्यप परिवर्तन महायान सूत्र।
 8. षड्दर्शनसमुच्चय-गुणरत्नटीका पृष्ठ 96-98 अध्यात्मसार 45-51
 9. Thilly: History of Philosophy, Page 32
बलभद्र जैन, जैन धर्म का सरल परिचय, पृष्ठ 72
 10. स्याद्वादमंजरी सं. डा. जगदीशचन्द्र जैनेन, प्रस्तावना पृष्ठ 22
 11. Thilly History of Philosophy Page 467.
 12. Appearance and Reality, Page 487
 13. Nature of Truth Ch. 3, Page 92-3
 14. मुनि नगराज, जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान, पृष्ठ 9
 15. The Principals of Psychology, Vol. 1 Ch. 20 Page 291
 16. Present Philosophical Tendencies, Chapter on Realism.
 17. Introduction to Logic, Page 172-3.
 18. In the Quert of Ideal, Page 21
 19. डॉ. रामजीसिंह-जैन विद्या एवं प्राकृत, पृष्ठ 20, 20. वही
 21. स्याद्वादमंजरी, प्रस्तावना पृष्ठ 11, 22. वही
 23. हेमचन्द्राचार्य-अन्ययोग व्यवच्छेदिका, पद्य 29
 24. स्याद्वाद मंजरी, पृष्ठ 293, 25. वही, पृष्ठ 226, 26. वही, पृष्ठ 240-241
 27. हेमचन्द्राचार्य अन्ययोग-32
 28. डॉ. रामधारीसिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 137
 29. पुरुषार्थ सिद्धध्यापाय-2
- अन्य पुस्तकें
1. भारतीय दर्शन-डॉ. बलदेव उपाध्याय
 2. भारतीय दर्शन-डॉ. राधाकृष्णन
 3. भारतीय दर्शन-वाचस्पति गैरोला
 4. जैन दर्शन-प्रो. महेन्द्र कु. न्यायचार्य
 5. जैन धर्म- पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री

शा.कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय, इन्दौर (म.प्र.)

ऋषभायण में राज्य-व्यवस्था

अमराणी मंगलप्रज्ञा

अस्तित्व निरपेक्ष है, व्यक्तित्व सापेक्ष है। अस्तित्व स्थायी है, व्यक्तित्व परिवर्तनशील है। अस्तित्व कोरा उपादान है, व्यक्तित्व निमित्तसापेक्ष उपादान की अनुगुञ्ज है। व्यक्तित्व के विकास और हास में उपादान कारण के साथ-साथ निमित्त कारण का भी महत्वपूर्ण स्थान है। व्यक्तित्व के उत्थान और पतन में काल, स्वभाव, नियति, कर्म, पुरुषार्थ, क्षेत्र, मति, परिस्थिति आदि सबका योग रहता है। परिस्थिति बदलते ही व्यक्ति के स्वभाव में परिवर्तन परिलक्षित होने लगता है। अस्तित्व में आलोकित उपादान की चमक व्यक्तित्व में निहित निमित्त की चमक से तिरोहित हो जाती है। उपादान निमित्त से पराभूत होता हुआ सा प्रतीत होता है। इस सत्य का साक्षात यौगलिक युग में किया जा सकता है। आदियुग का यौगलिक मानव कल्पवृक्षों के सहारे अपना जीवन यापन कर रहा था। जीवन की सीमित आवश्यकताएं थीं। जिनकी सम्पूर्ति प्रकृति के द्वारा ही सहज रूप से हो रही थी। उस काल के व्यक्तियों में अकृत प्राकृतिक व्यवस्था थी। न सभ्यता, न संस्कृति, प्रकृति ही उनकी भव्य आकृति थी। न समाज, न राज्य, व्यक्ति अपनी ही मस्ती में अलमस्त था। आवेग एवं संवेग की सरिता उस युग के मानव के हृदय में स्वतः ही शान्त थी। जब संवेग का वलय उपशांत होता है तब व्यवस्था अव्यवहार्य बन जाती है। यौगलिक युग के मनुष्य स्वभाव से ही प्राकृतिक व्यवस्था का अनुपालन कर रहे थे। ऋषभायण के महाकवि उस युग की तुलना मार्क्स के राज्यविहीन समाज की अवधारणा से करते हैं—
नहीं राज्य है, ना समाज है, व्यक्तिवाद है एकाकार।
राज्य-विहीन समाज मार्क्स की हुयी कल्पना ज्यों साकार ॥¹

आचार्य श्री महाप्रज्ञ के अनुसार जिस समाज में अर्थ और पदार्थ का अभाव नहीं होता तथा उनका प्रभाव भी नहीं होता है, वह समाज स्वस्थ समाज होता है। यौगलिक युग में जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति का अभाव नहीं था और पदार्थ का प्रभाव भी नहीं था। काल में परिवर्तन घटित हुआ। प्राकृतिक संसाधन आवश्यकता पूर्ति में असमर्थ हो गये। अभाव की स्थिति उत्पन्न हो गई। उस स्थिति में यौगलिकों के मन में अधिकार और ममत्व की चेतना का विकास हुआ। अव्यवस्था शुरू हो गयी। इस अव्यवस्था ने कुलकर व्यवस्था को जन्म दिया। स्वच्छन्द-स्वतंत्र विचरण करने वाले प्राणियों ने पर के बंधन में रहना स्वीकार किया। मानव-सभ्यता के इतिहास का वह पहला दिन था जब स्वतन्त्रता-परतन्त्रता के आच्छादन में सुरक्षा खोजने लगी। अभाव की समस्या ने व्यक्ति की ममकार चेतना और अधिकार की मनोवृत्ति को परिपुष्ट किया, फलस्वरूप कुलकर व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गयी। कुलकर नाभि ने राज्य की व्यवस्था की और ऋषभ को राजा के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। कुलकर-व्यवस्था का अन्त राज्य-व्यवस्था के उदय से हुआ। यहीं से मानव सभ्यता एवं संस्कृति के इतिहास का अभिनव सृजन प्रारम्भ हुआ।

राजा ऋषभ ने अपनी अतीन्द्रिय ज्ञान क्षमता के द्वारा अश्रुतपूर्व और अदृष्टपूर्व व्यवस्था का सूत्रपात किया। उन्होंने एक क्रान्ति की और अकर्मयुग का यौगलिक मानव कर्मयुग में पुरुषार्थ प्रधान बन गया। ऋषभ-राज्य की गाथा पुरुषार्थ की गाथा है। संस्कृति और सभ्यता के अभ्युदय की गाथा है।

राजा ऋषभ के द्वारा नये युग का श्री गणेश हुआ। राज्य-व्यवस्था से अनजान आदिम युग ने राज्य का निर्माण किया। व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज एवं समाज से राज्य संस्था का उदय हुआ। व्यक्ति का समूहीकरण ही विभिन्न नामों से सम्बोधित होने लगा।

राज्य की परिभाषा

मानव हृदय में विद्यमान सामूहिक भावनाओं की केन्द्रीय अभिव्यक्ति का नाम राज्य है। समुदाय का उत्कृष्ट रूप राज्य है। प्रत्येक समुदाय का यही उद्देश्य होता है कि वह सबके हित का सम्पादन करे। राज्य का उद्देश्य सर्वाधिक हित को सम्पादित करना है, अतः अन्य सब समुदाय उसमें अन्तर्गर्भित हो जाते हैं। अरिस्टोटल ने राज्य को परिभाषित करते हुये कहा—“राज्य कुलों और ग्रामों के उस समुदाय का नाम है, जिसका उद्देश्य पूर्ण और सम्पन्न जीवन की प्राप्ति है”²।

रोमन साम्राज्य के प्रसिद्ध राजशास्त्री सिसरो ने राज्य को परिभाषित करते हुये कहा—“राज्य उस समुदाय को कहते हैं, जिसमें यह भावना विद्यमान हो कि सबको उसके लाभों का परस्पर साथ मिलकर उपभोग करना है”³। The state is a numerous society united by a common sense of right and mutual participation in advantages.

गार्नर ने राज्य की अवधारणा को स्पष्ट करते हुये कहा—“राज्य मनुष्यों के उस समुदाय का नाम है जो संख्या में चाहे अधिक हो या न्यून पर जो किसी निश्चित भू-भाग पर स्थायी रूप से बसा हुआ हो, जो किसी भी बाह्य शक्ति के नियन्त्रण से पूर्णतया एवं प्रायः स्वतन्त्र हो और जिसमें एक ऐसी सुसंगठित सरकार विद्यमान हो, जिसके आदेश का पालन करने के लिए उस भूखण्ड के प्रायः सभी निवासी अभ्यस्त हों”⁴। ऋषभ-राज्य को जब उपर्युक्त परिभाषाओं के संदर्भ में देखते हैं तो परिलक्षित होता है कि उसमें राज्य की ये सभी विशेषताएं विद्यमान थीं। सबके हित साधन के लिए ही ऋषभ-राज्य का प्रादुर्भाव हुआ था। जनता, पृथ्वी का स्वतन्त्र भूभाग, पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न समुदाय एवं व्यवस्था संचालन के लिए अपनी सरकार—राज्य के ये सभी आवश्यक तत्त्व ऋषभ राज्य में उपस्थित थे।

राज्य का उद्भव

राज्य स्वाभाविक नहीं है किन्तु आवश्यकता के कारण उद्भूत यथार्थ है। जब समूह में संक्लेश पैदा होता है तब राज्य-व्यवस्था का प्रादुर्भाव होता है। समूह को संगठित करने के लिए और उसके व्यवस्था मूलक प्रश्नों के समाधान के लिए ही राज्य सत्ता का आविर्भाव होता है। केवल जीवन-यापन करना ही मानव का लक्ष्य नहीं है; वरन शांति, आनन्द और संस्कृति का उपभोग करना भी उसका उद्देश्य है। राज्य इस लक्ष्य को पूर्ण करने का साधन है। मनुष्य की संरक्षणात्मक समस्याओं का समाधान करने के लिए ही राज्य-सत्ता उद्भूत होती है। ऋषभ की राज्य-व्यवस्था के प्रादुर्भाव का मूल कारण यौगलिक जीवन में उत्पन्न पदार्थ वितरण का असामञ्जस्य ही था। उस समय प्रबल दुर्बल पर हावी हो रहा था। न्याय-अन्याय शक्तिशाली के विचारों का अनुसरण कर रहे थे। राज्य का एक उद्देश्य यह भी है कि सबको न्याय मिले। इसी अवधारणा के साथ ऋषभ-राज्य का उदय होता है—

दुर्बल के प्रति प्रबल नर कर न सके अन्याय,
शासन की यह सफलता न बने वह व्यवसाय⁵।

उस युग में विषमता की आंधी शान्त-प्रशान्त यौगलिकों के जीवन को तहस-नहस करने लगी। हाकार, माकार एवं धिक्कार नीति जब पौरुषहीन होने लगी तब पुरुषार्थी ऋषभ-राज्य का जन्म हुआ।

समाज और राज्य

समाज का आधार है—मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियों का समूहीकरण। यह प्रक्रिया मानव को इच्छापूर्वक सत्कर्म में नियोजित करने में व्यक्त होती है किन्तु राज्य अन्ततोगत्वा दण्डशक्ति का आश्रय लेता है। यद्यपि राज्य भी प्रथम आज्ञा, निर्देश, विज्ञप्ति, सूचना, उपदेश से काम लेता है; किन्तु अपनी आज्ञा का उल्लंघन होने पर वह नियंत्रण-शक्ति का प्रयोग भी करता है। समाज परम्परा प्राप्त धर्मों, नियमों, व्यवहारों से अपनी

व्यवस्था संचालित करता है किन्तु स्पष्ट विधियां या लिखित अनुशासन ही आधुनिक राज्य के मुख्य साधन हैं। हिंसा का प्रश्न समाज और राज्य को पूर्णतः पृथक् कर देता है। सामाजिक संस्थाएं आर्थिक दण्ड दे सकती हैं, प्रायश्चित्त करा सकती हैं, यदि कोई मनुष्य उसकी व्यवस्था को न माने तो वह उसे समाज से बहिष्कृत भी कर सकती है, किन्तु वह उसे कैद नहीं कर सकती, शारीरिक दण्ड नहीं दे सकती। राज्य को विधि सम्मत दण्ड देने का पूर्ण अधिकार है। सामाजिक दण्ड व्यक्ति स्वेच्छा से स्वीकार करता है किन्तु राजकीय दण्ड तो व्यक्ति को अनिवार्यतः भोगना ही पड़ता है। राज्य व्यवस्था का दण्ड अनिवार्य तत्त्व है, अतः राजनीति को दण्डनीति भी कहा जाता है। दण्डभय से ही अधिकांश व्यक्ति सद्मार्ग का अनुगमन करते हैं। मनु ने कहा भी है—

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः ।

दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद् भोगाय कल्पते६ ।।

ऋषभ-राज्य से पूर्व की कुलकर व्यवस्था को समाज व्यवस्था कहा जा सकता है, क्योंकि वहां पर दण्ड का स्वीकार स्वेच्छापूर्वक था किन्तु ऋषभ राज्य में दण्ड की अनिवार्य व्यवस्था थी।

ऋषभराज्य और दण्ड

ऋषभ-राज्य में अधिकांश जनता स्वभावतः ही अनुशासित थी। निज पर शासन का घोष उनके जीवन में स्वतः अवतरित था। नियम की अनुपालना उनके जीवन में प्राकृतिक रूप से ही अवस्थित थी। नियम का उल्लंघन करना वैकृतिक/अस्वाभाविक था फिर भी जहां भी व्यवस्था का भंग होता था वहां विभिन्न प्रकार के दण्डों का विधान था। वाचिक एवं कायिक दोनों ही प्रकार के दण्ड अपराधी को उसके अपराध के अनुसार दिये जाते थे। किसी अपराधी को कड़े शब्दों में कहा जाता—‘यहीं बैठ जाओ’ यह दण्ड भी उसके लिए मरण-तुल्य होता था किन्तु जैसे-जैसे लज्जा का अपकर्ष होता है, वैसे ही व्यवस्था का अतिक्रमण तेजी से होने लगता है। लज्जाहीन व्यक्ति नियम को तोड़ते हुये सकुचाता नहीं है, वैसी स्थिति में दण्ड भी कठोर होने लगते हैं। ऐसा ही ऋषभ-राज्य में हुआ। वाचिक दण्ड से कायिक दण्ड की ओर राज्य-व्यवस्था बढ़ने लगी। मंडली-बंध, घर में नजर बन्ध आदि विभिन्न प्रकार के दण्ड प्रयोग में आने लगे। उससे आगे देह-पीड़क दण्ड का प्रयोग भी होने लगा। किन्तु ऋषभ राज्य के अधिकांश नागरिक स्वयं सम्बुद्ध एवं अनुशासित थे, अतः अतिक्रमण कम होते थे, इसलिए दण्ड भी सीमित ही थे। ऋषभायण में यह तथ्य इस रूप में मुखर हुआ है—

सीमित शासन, अल्प अतिक्रम, अल्प दण्ड, तनुतर विक्षेप ।

ऋषभराज्य की यह महिमा है, नहीं कहीं कोई आक्षेप ॥’

राज्य में सुरक्षा व्यवस्था :

राज्य के सम्यक् संचालन के लिए सुरक्षा व्यवस्था आवश्यक होती है। ऋषभ ने अपने राज्य में सुरक्षा के समुचित उपाय किये। उन्होंने अपने राज्य की सम्पूर्ण जनता को

चार भागों में विभक्त किया—उग्र, भोज, राजन्य एवं क्षत्रिय। जिन पर सुरक्षा का दायित्व था वे उग्र कहलाये। जिनके साथ राज्य-संचालन के लिए मंत्रणा की जाती थी उनकी अभिधा भोज हुयी। ऋषभ के समयव्यस्क, जो उनके सखा थे उनको राजन्य कहा गया तथा अवशिष्ट सभी क्षत्रिय कहलाये। इस व्यवस्था का उल्लेख 'त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरितमहाकाव्य' एवं 'ऋषभायण' इन दोनों ही ग्रंथों में उपलब्ध है⁸। आदिपुराण में आचार्य जिनसेन ऋषभ के द्वारा कृत वर्ण-व्यवस्था का उल्लेख करते हैं⁹। किन्तु आचार्य हेमचन्द्र एवं आचार्य महाप्रज्ञ वर्ण-व्यवस्था के संदर्भ में मौन है। यह स्पष्ट है कि कवि की काव्य-रचना पर तात्कालिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। संभवतः आदि पुराण के कर्ता के समय वर्ण-व्यवस्था सुदृढ़ थी तथा वे उसको मान्य भी कर रहे होंगे, अतः उन्होंने इस व्यवस्था का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया हो किन्तु आचार्य हेमचन्द्र तात्कालिक परिस्थितियों से कैसे अप्रभावित रहे, यह अन्वेषणीय है। संभव है आदिपुराण के कर्ता के समक्ष अपने ग्रन्थ के प्राथमिक स्रोतों में यह तथ्य उपलब्ध थे तथा हेमचन्द्र के सामने इस उल्लेख वाले प्राचीन-स्रोत उपलब्ध न हो अथवा यह भी हो सकता उपलब्ध होते हुये भी उन्होंने अपने ग्रन्थ में स्थान देना उचित न समझा हो। दोनों ही लेखकों की भिन्न परम्परा भी वर्ण-व्यवस्था की स्वीकृति-अस्वीकृति में शायद कारणभूत बनी हो। आचार्य महाप्रज्ञजी के सामने जो स्रोतभूत सामग्री उपलब्ध थी उसमें दोनों ही तरह के विचार उपलब्ध थे किन्तु उन्होंने समीक्षापूर्वक वर्ण-व्यवस्था का उल्लेख अपने महाकाव्य में नहीं किया। जो वार्तमानिक परिस्थिति के अनुकूल ही है तथा उनके स्वतंत्र अभिव्यक्ति के अधिकार की मुखर प्रस्तुति भी है।

ऋषभ-राज्य में अर्थव्यवस्था :

भगवान् ऋषभ से पूर्व का युग भोगभूमि था। ऋषभ के अवतरण के साथ ही युग अकर्म से कर्म भूमि की ओर गतिशील होने लगा। जीवन निर्वाह के लिए शिल्प-कर्म की आवश्यकता हुई। राजा ऋषभ ने अपनी जनता को शिल्प एवं कर्म का प्रशिक्षण दिया, जिससे वे अपनी आजीविका को प्राप्त कर सके। सब कुछ नया था। मिट्टी के पात्र निर्माण से लेकर लोह-शिल्प, बर्तई-शिल्प आदि का प्रशिक्षण स्वयं ऋषभ ने जनता को दिया। वस्त्र-निर्माण, नख-केश संस्कार का ज्ञान भी उस समय के व्यक्तियों को नहीं था। उसका भी बोध ऋषभ ने जनता को दिया। उस समय कुम्हार, बर्तई, चित्रकार, जुलाहा एवं नापित यह पांच प्रकार का शिल्प जनता में फैला। इनमें से प्रत्येक के बीस-बीस भेद थे अतः शिल्प सौ प्रकार का हो गया¹⁰। ऋषभ ने घसियारा, लकड़हारा, किसान और वणिक् कार्य की शिक्षा भी आजीविका के लिए जनता को दी। वे हर तरह से अपने-आपको जनता के हित-साधन में नियोजित किये हुये थे। ऋषभ उस युग की अपरिहार्य आवश्यकता थे। जनता का सुख-दुःख ही उनका अपना सुख-दुःख था। जनता के हित चिन्तन में उन्होंने अपने आपको समर्पित कर दिया था। वह नेता और राजा ही जनप्रिय होता है जो प्रजा के दिल को जीत सकता है। जो आजीविका के उपाय सुझाता है। जनहित

की साधना में निरत रहता है। जनता के हित की चिन्ता न करने वाला नेता केवल शासन का भार ढोता है। उसे जनता से सम्मान नहीं मिलता। जो अधिकार मिलता है, वह भी अन्ततः धिक्कार में बदल जाता है। ऋषभायण की इन पंक्तियों में यही भाव प्रस्फुटित हुये हैं—

जनहित साधन में न निरत है, केवल ढोता पद का भार।
वह क्या राजा, वह क्या नेता? उससे पीड़ित है संसार ॥
जनता से अधिकार प्राप्त कर नहीं कभी करता उपकार।
प्रथम वर्ण का लोप हो गया और हो गया द्वित्व ककार¹¹ ॥

ऋषभ ने अपने दायित्व का निर्वाह संवेदन की भूमिका पर स्थित होकर किया। पर में घटित घटना को स्व में घटित अनुभूत कर उसका समाधान देने का प्रयत्न किया। जब नेता के दिल में करुणा का स्रोत प्रवाहित रहता है तब उसके अधीनस्थ उसे अपना समझते हैं। यह ऐक्य की अनुभूति ही शासन-व्यवस्था का सम्यक् संचालन कर सकती है। ऋषभ-राज्य में इस ऐक्य-भाव की प्रगाढ़ अनुभूति विद्यमान थी।

राजा (नेता) की अर्हता

सामान्य जनता अपने शासक का अनुसरण करती है। इसलिए कहा गया— 'यथा राजा तथा प्रजा'। ऐसी स्थिति में नेता पर अत्यधिक जिम्मेदारी आ जाती है। वह सामान्य जनता का आदर्श बनता है, अतः उसमें चारित्रिक उच्चता की अत्यन्त अपेक्षा होती है। सत्ता और प्रशासन से सम्बन्धित व्यक्तियों की योग्यता की दो कसौटियां हो सकती हैं—चरित्रबल और बौद्धिक क्षमता। इसमें भी प्रमुख चरित्रबल है। यदि उसका चारित्रिक पक्ष उजला नहीं है तो उसमें सत्ता के शीर्ष पर आरूढ़ होने की योग्यता ही नहीं है। "अहिंसा में आस्था, अर्थ का संयम, अपने आवेशों पर नियन्त्रण करने की क्षमता, सामाजिक न्याय के प्रति हार्दिक समर्पण, समन्वय और सापेक्षता का दृष्टिकोण, बौद्धिक और मानसिक संतुलन—ये राजनेता के चारित्र के मुख्य तत्त्व हैं।"¹²

ऋषभायण में राजा की अर्हता का सांगोपांग विवेचन हुआ है। शासक को इन्द्रियजयी होना चाहिये। इन्द्रियजय ही राज्य का मूल है—राज्यमूलमिन्द्रियजयः।¹³ चाणक्य के इस सूत्र की आज के पदार्थवादी और सुविधावादी युग में अत्यन्त अपेक्षा है। अजितेन्द्रिय राजा राज्य में समुचित व्यवस्था नहीं कर सकता। ऋषभायण का महाकवि भी शासक की जितेन्द्रियता का प्रबल पक्षधर है। जितेन्द्रियता के अभाव में शासन-व्यवस्था ही समाप्त हो जाती है—

अजितेन्द्रिय शासक विफल, अंकहीन ज्यों शून्य ।

संयत शासक प्राप्तकर, होती धरा प्रपुण्य।¹⁴

अर्थ के प्रति सम्यक् दृष्टिकोण रखने वाला राजा ही राज्य का सम्यक् निर्वाह कर सकता है। मनु ने ठीक ही कहा था—अर्थशुचिःशुचिः। पवित्र वह होता है जो अर्थ

के मामले में शुचि (पवित्र) होता है। धन को लेकर कोई भी व्यक्ति जिस पर अंगुलि निर्देश न कर सके वही श्रेष्ठ नेता होता है। राजा को करुणाशील भी होना चाहिये। करुणा के धागे से बंधा शासन व्यवस्थित रहता है। करुणा के अभाव में वह छिन्न-भिन्न हो जाता है—

क्रूर नृपति शासन सूत्र, मातृस्नेह से विरहित पुत्र
शासन सह संवेदन पूत, शांतिदूत बनता साकूत।¹⁵

महाकवि भारवि प्रणीत 'किरातार्जुनीयम्' महाकाव्य के प्रथम सर्ग में भी राजा की अर्हताओं का उल्लेख हुआ है। वनेचर दुर्योधन के राज्य में जाकर उसके आचार-व्यवहार का निरीक्षण करता है एवं वहां से आकर सारी स्थिति की अवगति धर्मराज युधिष्ठिर को देता है। उस वर्णन में राजा की योग्यताओं की अभिव्यक्ति हो रही है। जिनको हम निम्न वर्गीकरण से जान सकते हैं। श्रेष्ठ राजा वह होता है—

1. जो अपनी काम-क्रोध आदि वृत्तियों पर नियन्त्रण रखता है।
2. जो आलस्यमुक्त होता है।
3. जो नीति का आलम्बन लेकर चलता है।
4. जो पुरुषार्थी होता है।
5. जो अपने सहयोगियों के साथ मित्रवत् आचरण करता हुआ उनका आदर करता है।
6. जो पक्षपात रहित होता है।
7. जो साम, दाम, दण्ड एवं भेद इन चारों नीतियों का ज्ञाता एवं प्रयोक्ता होता है।
8. जो दानशील होता है।
9. जो योग्य व्यक्तियों का सत्कार करता है।
10. जो धार्मिक होता है।¹⁶

राजा ऋषभ के प्रशासनिक जीवन में ये विशेषताएं स्वभाव से ही सिद्ध हैं।

राज्य-व्यवस्था संचालन के सूत्र

व्यवस्था के निर्माण से भी अधिक महत्वपूर्ण है कि उसका संचालन कैसे किया जाए? कुशल संचालक के अभाव में सुघटित व्यवस्था भी राज्य को स्वस्थता प्रदान नहीं कर सकती। संचालन कौशल से ही व्यवस्था प्राणवान बन सकती है। ऋषभ जब संन्यास के मार्ग पर आरूढ़ होने का संकल्प ले लेते हैं तब वे अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत का राज्याभिषेक करते हैं एवं भरत को राजनीति का उपदेश देते हैं। वह उपदेश आज भी उतना ही प्रासंगिक है। ऋषभायण के महाकवि प्राचीन-अर्वाचीन शासन संचालन की विधियों का वर्णन ऋषभमुख से करवाते हैं।

शासन संचालन में अनुग्रह एवं निग्रह का संतुलन आवश्यक है। एकांगी व्यवहार समस्या का सर्जक होता है। ऋषभायण के महाकवि अनेकान्तदृष्टि के संपोषक हैं। शासन-

व्यवस्था में अनेकान्त दृष्टि की अनुपालना होने से समस्याएं समाहित हो जाती हैं, यह उनका दृढ़ अभिमत है।

केवल निग्रहनीति से बढ़ता जन आक्रोश,
सिर्फ अनुग्रह नीति से खो देता नर होश ।
निग्रह और अनुग्रहयुक्त, शासन विपदा पद से मुक्त ।
दोनों का समुचित व्यवहार, मनुज प्रकृति का वर उपचार ।

अधिकार शोषण के स्थल न बने। वे पोषण के हाथ पुष्ट करे, यह काम्य है। वह व्यक्ति महान् होता है जो दूसरों के पोषण के लिए अपनी शक्ति का नियोजन करता है। जो अपने पोषण के लिए दूसरों का शोषण करता है, वह व्यक्ति जुगुप्सा का पात्र बनता है। शासन-संचालन व्यवस्था शोषण से नहीं अपितु पोषण से सुदृढ़ बनती है। इस तथ्य को महाकवि ने कितनी सुन्दर प्रस्तुति दी है—

अमरबेल ने आरोहण कर किया वृक्ष का शोष,
वह कैसा प्राणी जो करता पर शोषण निज पोष ।
कितना हाय जुगुप्सितकर्म लज्जित हो जाती है शर्म ॥¹⁸

आचार्य श्री महाप्रज्ञजी ने अतीत के झरोखे से वर्तमान का जीवन-दर्शन दिया है। सत्ता प्राप्त कर व्यक्ति अपने कर्तव्य से विमुख हो जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों को ऋषभायण के महाकवि ने दायित्व-बोध का अनुभवप्रणीत उद्घोष दिया है। वही शासक और शासन सफल हो सकता है, जो जनता की दुःख-दुविधा को मिटाने में सतत जागरूक एवं क्रियाशील बना रहता है। जो शासक दुःख-दुविधा से पीड़ित जनता के हित की चेष्टा नहीं करता, उसका शासन रुग्ण, अप्रीतिकर एवं असहनीय बन जाता है। जन आक्रोश उभर जाता है। जनता ऐसे शासन से मुक्ति पाने का प्रयत्न करती है, अतः यह आवश्यक है कि नेतृवर्ग शासन-संचालन का कार्य संवेदन की चादर ओढ़कर करे—

जनता की दुविधा मिटे, शासन का है ध्येय ।
दुविधा की यदि वृद्धि हो, वह आमयकर पेय ॥
चरण-चरण के साथ चले, मन में प्रतिपद संवेदन हो ।
जनतापी पीड़ा से विगलित रोम-रोम में स्वेदन हो ॥¹⁹

राज्य-संचालन के सहयोगी

राज्य संचालन का मुख्य दायित्व राजा पर अथवा आज की भाषा में प्रधानमंत्री पर होता है किन्तु अकेला व्यक्ति शासन-संचालन नहीं कर सकता। उसे सहयोगियों की अपेक्षा होती है। प्राचीनकाल से ही यह सर्व सम्मत अवधारणा है कि राजा के सहयोगी निपुण मंत्री होने चाहिये। एक चक्र से राज्य-व्यवस्था का रथ गतिशील नहीं हो सकता—

नैकं चक्रं परिभ्रमयति²⁰ ऋषभायण में भी यह सत्य उजागर हुआ है—

एक चक्र बल से नहीं चल सकता है यान ।

होता है साचिव्य से शासन रथ गतिमान ।²¹

राज्य राजाओं की पारिवारिक समस्या नहीं है, अतः राज्य-संचालन में उन्हें राष्ट्र के व्यवहार-कुशल, दूरदर्शी विशिष्ट पुरुषों की सहायता लेनी ही चाहिये। 'सहाय-साध्यत्वं राज्यत्वम्' राज्य-संस्था व्यक्तिगत संस्था भी नहीं है। इसमें सहायकों की सहायता की अनिवार्य अपेक्षा होती है। चाणक्य ने तो यहां तक कह दिया है कि मंत्री परिषद् की बौद्धिक सहायता से रहित अकेला राजा अपने सीमित अनुभवों से जटिल कर्तव्यों के विषय में सुदूरव्यापी उचित निर्णय ही नहीं कर सकता—ना सहायस्य मन्त्रनिश्चयः।²²

नीतिवाक्यामृत में राजा को अनेक सहयोगी रखने का परामर्श दिया गया है। जिस राजा के अधिक सहयोगी होते हैं उसके सभी मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं—बहुसहाये राज्ञिं प्रसीदन्ति सर्व एव मनोरथाः।²³

अकेला व्यक्ति व्यवस्था का सम्यक् संचालक नहीं कर सकता। व्यवस्था के अभाव में राज्य विखण्डित हो जाता है। मंत्री विहीन राजा एक शाखा वाले वृक्ष के सदृश है जिसकी छाया नहीं हो सकती—किमेकशाखस्य शाखिनो महती भवतिच्छाया।²⁴

सहयोगी की योग्यता :

नेता को अपने सहयोगी मन्त्रियों के चुनाव में सतर्क रहना चाहिये। उसके सहयोगियों का चरित्र-बल उत्कृष्ट होना चाहिये। अर्थ की प्रबल आसक्ति वाले मंत्री समाधान की अपेक्षा स्वयं समस्या बन जाते हैं। जनता का भला करने की आड़ में अपने स्वार्थ साधन में तत्पर होकर जनता के लिए अभिशाप बन जाते हैं, अतः सचिव को अर्थलुब्ध नहीं होना चाहिये। ऋषभायण में भी यही स्वर सुनाई दे रहा है—

“अर्थलुब्ध यदि सचिव है, पद-पद प्रथित अनर्थ।

शासक ही शोषक तदा, जल सिंचन है व्यर्थ।”²⁵

कुलीन, सदाचारी, व्यसनमुक्त, स्वदेशप्रेमी इत्यादि गुणों से अभिमण्डित मंत्री को प्राप्त कर राजा राज्य का सम्यक् संचालन कर सकता है। मंत्री यदि व्यसनमुक्त नहीं है तो वह राजा को भी नष्ट कर देता है—

“सव्यसनसचिवो राजा आरूढव्यालगज इव नासुलभोऽपायः।।”²⁶

चाणक्यसूत्र में निर्देश दिया गया है कि तर्कशास्त्र, दण्डनीति, वार्ता आदि विद्याओं में पारंगत तथा गुप्त रूप से ली हुई लोभ परीक्षाओं से शुद्ध प्रमाणित व्यक्ति को ही मंत्री नियुक्त किया जाए।

“श्रुतवन्तमुपधाशुद्धं मन्त्रिणं कुर्यात्।”²⁷

राज-सहयोगी निर्धारण के ऐसे अनेक सूत्र प्राचीन शास्त्रों में उपलब्ध हैं। ऋषभायण में भी उन सूत्रों के साथ ही नवीन अवधारणाओं की अनुगुञ्ज श्रुतिलभ्य है।

ऋषभायण में राजनीति के अनेक मुद्दों पर विमर्श हुआ है किन्तु विदेश-नीति, शास्त्र-निर्माण, परीक्षण, अर्थ की समायोजना आदि विषयों पर चिन्तन अनुपलब्ध है।

यद्यपि यह सच है कि ऋषभ राज्य में इन समस्याओं पर विचार करने का अवकाश ही नहीं है। ऋषभ राज्य इन समस्याओं से मुक्त था लेकिन ऋषभायण के लेखन युग में इन पर विमर्श करना अनिवार्य हो गया है। कवि की भी अपनी सीमा है, इसको जानते हुये भी मन कह रहा है कि यदि इस प्रज्ञावान महाकवि के प्रज्ञाबल से अहिंसात्मक समाधानों का निर्झर निःसृत होता तो एक नयी दिशा आज के दिग्मूढ़ युग को प्राप्त होती।

ऋषभायण के महाकवि ने भारतीय संस्कृति, दर्शन और अध्यात्म-चेतना का सुन्दर एवं मर्मस्पर्शी चित्रण इस ग्रन्थ में किया है। राज्य-व्यवस्था से संदर्भित पद्यों को पढ़कर ऐसा आभास होने लगा, यदि आज का शासक वर्ग 'ऋषभायण' में ऋषभमुख से भरत के लिए निःसृत शिक्षापदों का अपने जीवन व्यवहार में उपयोग करे तो भारत अपने प्राचीन गौरव को पुनः प्राप्त करने में सक्षम हो सकेगा। ऋषभायण के कर्ता स्वयं एक सफल शासक हैं। भले वे एक धर्मसंघ के शासन का संचालन कर रहे हो किन्तु जहां भी मनुष्यों का समूह होता है, उसमें अपनी मौलिक मनोवृत्तियां विद्यमान होती हैं। शास्ता को उन सब बातों पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अनुचिन्तन करके व्यवस्था का समायोजन करना होता है। ऋषभायण में प्रदत्त सम्यक् शासन-व्यवस्था के सूत्र कवि की लेखनी से निकले कोरे शब्द नहीं हैं किन्तु उनका यह अनुभव-प्रणीत जीवन-दर्शन है। दर्शन की इस सच्चाई को वे अपने जीवन में व्यवहार्य बना रहे हैं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि ऋषभायण में प्रदत्त राज्य-व्यवस्था कोरी Philosophy नहीं है अपितु applied philosophy है।

संदर्भ :

1. ऋषभायण पृ. 6
2. राजनीतिशास्त्र The state is a union of families and villages having for its end perfect and self sufficing life. (Aristotle)
3. राजनीतिशास्त्र
4. वही The state is community of persons more or less numerous, permananetly occulpying a difinite portion of territory, independent or nearly so of external control and possessing an organised Government to which the great body of inhabitants render habitual obedi-ence. (Garner)
5. ऋषभायण, पृष्ठ 88
6. मनुस्मृति 7/
7. ऋषभायण, पृ. 74
8. (क) त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरितम् 2/974-976
तदोग्र-भोग-राजन्य-क्षत्रभेदैश्चतुर्विधान् ।
जनानासूत्रयद् विश्वस्थितिनाटकसूत्रभूत ॥
आरक्षपुरुषा उग्रा, उग्रदण्डाधिकारिणः ।
भोगा मन्त्र्यादयो भर्तुस्त्रायस्त्रिंशा हरेरिव ॥
राजन्या जज्ञिरे ते ये, समानवयसः प्रभोः ।
अवशेषास्तु पुरुषा बभूवुः क्षत्रिया इति ॥

- (ख) ऋषभायण पृ. 70-71 (सर्ग 4)
9. आदिपुराण
- 10 (क) त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितम् 2/957
तानि पञ्चाऽपि शिल्पानि प्रत्येकं विंशभेदतः ।
शतघ्ना प्रासरल्लोके स्रोतांसि सरितामिव ॥
- (ख) ऋषभायण पृ. 62-63
11. वही, पृ. 71 (सर्ग 4)
 12. लोकतन्त्र : नया व्यक्ति, नया समाज, पृ. 16
 13. चाणक्यसूत्राणि, 4
 14. ऋषभायण, पृ. 88
 15. वही, पृ. 88
 16. (क) किरातार्जुनीयम् 1/9-22
 17. ऋषभायण, पृ. 88-89
 18. वही, पृ. 80
 19. वही पृ. 90
 20. चाणक्यसूत्राणि, 17
 21. ऋषभायण, पृ. 89
 22. चाणक्यसूत्राणि, 16
 23. नीतिवाक्यामृत 10/80
 24. वही, 10/82
 25. ऋषभायण, पृ. 89
 26. नीतिवाक्यामृत 10/9
 27. चाणक्यसूत्राणि, 21

सम्पर्क –
प्रवक्ता-जैन दर्शन
जैन विश्वभारती, संस्थान
लाडनूं

जैन दर्शन में चेतना के विकास की अवधारणा

— मुनि मदन कुमार

इस जगत में मूलभूत तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव। इन दोनों का अस्तित्व जगत में अनादिकाल से है। जीव तत्त्व में चेतना है, जानने और देखने की प्रवृत्ति है तथा सुख-दुःख की अनुभूति है। जगत का कोई भी जीव चैतन्य से शून्य नहीं है। चैतन्य उसका स्वरूप है। उपयोग उसका लक्षण है। चेतना का विनाश न होना उसका स्वभाव है। जीव तत्त्व ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य गुण से संपन्न है। ये गुण सदैव उसमें बने रहते हैं। जीव सदाकाल जीव ही रहता है। अतीत, वर्तमान और भविष्य इन तीनों कालों में जीव का स्वतंत्र अस्तित्व बना रहता है। जीव की न कभी उत्पत्ति होती है और न कभी अन्त। इस लोक में अनंत-अनंत जीव विद्यमान हैं। जीव का जीवत्व नष्ट न होने से जीवों की संख्या न घटती है और न बढ़ती है। जीव का प्रतिपक्षी है—अजीव। वह भी गुण और शक्ति से संपन्न है। जीव की तरह अजीव तत्त्व का भी संपूर्ण लोक में अस्तित्व है। अजीव तत्त्व में न चैतन्य है, न ज्ञान और न दर्शन और न ही सुख-दुःख का संवेदन। यह एक सार्वभौम सच है कि जीव कभी अजीव नहीं बनता है और अजीव कभी जीव नहीं। जीव और अजीव दोनों अपने ही स्वरूप में रहते हैं। जीव और अजीव, जड़ और चेतन या प्रकृति और पुरुष के संयोग से इस सृष्टि की संरचना होती है। जैसे प्रयोगशाला में हाइड्रोजन के दो और ऑक्सीजन के एक अणु के मिलने से जल का निर्माण होता है वैसे ही जीव और पुद्गल द्रव्य के संयोग से सृष्टि का निर्माण होता है। मौलिक सत्य या अंतिम सचाई यह है कि न जीव की आदि, न अजीव की और न ही सृष्टि की। ये तीनों ही अस्तित्व की दृष्टि से

नित्य और शाश्वत हैं तथा अवस्था-परिवर्तन की दृष्टि से अनित्य और अशाश्वत है। जीव, अजीव और सृष्टि ये तीनों ही परिवर्तनशील हैं।

जैन दर्शन गुणात्मक सत्ता या अस्तित्व की दृष्टि से जीव और अजीव को नित्य और शाश्वत मानता है तथा अवस्था भेद या रूपान्तरण की दृष्टि से जीव और अजीव को अनित्य और अशाश्वत मानता है। जैन दर्शन सृष्टि की संरचना में किसी ईश्वर या अलौकिक शक्ति का हस्तक्षेप स्वीकार नहीं करता है। उसके अनुसार सृष्टि की संरचना प्राकृतिक है न कि ईश्वरकृत। तार्किक दृष्टि से भी यह अवधारणा अधिक संगत लगती है। सृष्टि को ईश्वरकृत मानने पर अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाता है जिसे समाहित करने के लिये जैन दर्शन की अवधारणा को स्वीकार करना होता है। कुछ दर्शनों ने सृष्टि को ईश्वरकृत माना है और ईश्वर को प्राकृतिक। वास्तविकता यह है कि जो ईश्वर राग-द्वेष से मुक्त है उसे सृष्टि-निर्माता या स्रष्टा के रूप में स्वीकार नहीं करना चाहिये।

हमारा यह लोक जीवों से परिपूर्ण है। ससीम लोक में जीवों का निवास है। इन जीवों के दो प्रकार हैं—सिद्ध और संसारी। जो जीव अपने पुरुषार्थ से कर्म-मुक्त, बंधन-मुक्त और शरीर मुक्त हो जाते हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं। ऐसे जीव अनंत हैं, जिन्हें परमात्मा, परमेश्वर या ईश्वर कह सकते हैं। एक बार मुक्त हो जाने पर जीव कभी संसार में नहीं लौटते हैं और संसार-भ्रमण उनका सदा-सदा के लिये रुक जाता है। संसार के दुःखों को मिटाने का यही एकमात्र उपाय है। मुक्त आत्माएं अपने स्वरूप और स्वभाव में अवस्थित हो जाती हैं। उनके सभी प्रकार के दुःखों का आत्यंतिक क्षय हो जाता है। विविध गतियों और योनियों में भ्रमण करने वाले जीव संसारी कहलाते हैं। संसारी जीव संदेह और दुःख सहित होते हैं। वे अनंतानंत काल से भव-भ्रमण की व्यथा को झेल रहे हैं। मनुष्य और देवगति मिलने से ही जीव को यत्किंचित् विश्राम या विराम तथा सुखानुभव मिल पाता है। नरक और तिर्यञ्च गति दुःखबहुल और कष्टप्रद है। इन गतियों में जीव का बहुत लम्बा समय बीत जाने पर ही पुण्योदय से मनुष्य और देवता की शुभ गति प्राप्त होती है। इन चार गतियों में यह आत्मा अनंत-अनंत काल से परिभ्रमण कर रही है। नानाविध कष्टों को भोगने पर भी आत्मा को अपने चरम उत्कर्ष के क्षण प्राप्त नहीं हो पाये हैं। सभी जीवों में चेतन सत्ता की समानता होने पर भी विविध गतियों और योनियों से संबद्ध विषमता पायी जाती है। भगवान महावीर का उद्घोष है—‘नो हीणे नो अइरित्ते’ आत्मा या चेतना की दृष्टि से सभी प्राणी समान है। कोई भी प्राणी हीन या अतिरिक्त नहीं है। यह कथन अन्तिम सचाई पर आधारित है। स्थूल जगत में विविधता और विचित्रता के साक्षात् दर्शन होते हैं। जाति, कुल, बल, रूप, ऐश्वर्य, ज्ञान, बुद्धि, सामर्थ्य आदि से विभेद व्यक्ति-व्यक्ति में देखा जा सकता है।

चेतना के स्तर

इस सृष्टि में तीन प्रकार की चेतना दिखाई देती है—अव्यक्त चेतना, व्यक्त चेतना और विकसित चेतना। चैतन्य की अभिव्यक्ति और विकास की तरतमता या न्यूनाधिकता

से ही यह वर्गीकरण किया गया है। एक इन्द्रिय वाले जीव अव्यक्त चेतना वाले हैं, ये स्थावर जीव कहलाते हैं। इनमें मानसिक और वाचिक प्रवृत्ति नहीं होती है, इनकी शारीरिक प्रवृत्ति भी बहुत अस्पष्ट होती है। इनमें सुख-प्राप्ति और दुःख-निवृत्ति के लिये सलक्ष्य गति नहीं होती है। ये पांच प्रकार के जीव हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय। जिन जीवों का शरीर पृथ्वीमय है वे जीव पृथ्वीकाय कहलाते हैं। सभी खनिज पदार्थ-पत्थर, मिट्टी, धातु, रत्न, कच्चा तेल आदि इसी के अन्तर्गत समाविष्ट होते हैं। वर्षा, ओस, हिमपात तथा कूप, सरोवर, समुद्र आदि का जल अप्कायिक जीवों के अन्तर्गत है। धूप-दीप, अगरबत्ती, मोमबत्ती, चूल्हें आदि की अग्नि तेजस्कायिक जीवों का शरीर है। खनिज पदार्थ और जल की तरह अग्नि भी सजीव है। वायु भी सजीव है। वायु वायुकायिक जीवों का शरीर है। फल-फूल, पेड़-पौधे, कंद-मूल, अन्न-बीज आदि भी सजीव हैं। ये सभी वनस्पतिकाय जीव कहलाते हैं। वनस्पति की सजीवता या चेतनता आधुनिक विज्ञान द्वारा सम्मत और संपुष्ट है। गेल्वेनोमीटर आदि यंत्रों की सहायता से वनस्पति जगत् के सुख-दुख या प्रिय-अप्रिय संवेदनों का मापन किया जा सकता है। जैनागम में इन सभी जीवों के अस्तित्व को स्वीकार कर आत्मतुला की भावना के विकास पर बल दिया है। ये प्राणी सघन मूर्च्छा या निद्रा में रहते हुये भी चेतनाशून्य नहीं है। चेतना के न्यूनतम विकास के कारण हर व्यक्ति इनमें चेतना का सही बोध नहीं कर पाता है। बोध न कर सकने से इनका अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता है। दो, तीन और चार इन्द्रिय वाले जीवों की चेतना व्यक्त और स्पष्ट होती है। कुंथु और चींटी से लेकर सभी कीड़े-मकोड़े और मक्खी-मच्छर आदि इसी वर्ग के अन्तर्गत समाविष्ट होते हैं। ये प्राणी मनशून्य अवश्य होते हैं, किन्तु संकोच-विस्तार, भय-पलायन आदि स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। ये गतिक्रिया करते हैं और सुख-दुःख को अभिव्यक्त कर सकते हैं। पांच इन्द्रिय वाले प्राणियों में पशु-पक्षी से लेकर मनुष्य, देव और नारक तक का समावेश हो जाता है। इनमें सभी इन्द्रियों का विकास हो जाता है। मनुष्य को सृष्टि का श्रेष्ठ प्राणी माना जाता है, क्योंकि उनमें मन, बुद्धि, भावना, ज्ञान, विज्ञान, संकल्प और संयम का विकास देखा जा सकता है। देवता और नारक भी समनस्क होते हैं, किन्तु वे हमारी इन्द्रियों के प्रत्यक्ष नहीं हैं। गर्भ से उत्पन्न होने वाले मनुष्य, पशु-पक्षी आदि समनस्क तथा शेष अमनस्क होते हैं। अमनस्क जीवों की अपेक्षा समनस्क जीव अधिक विकासशील और पतनशील होते हैं। मनुष्य में नैतिक और आध्यात्मिक विकास की अधिकतम संभावना होती है। जीवन की दिशा सही न होने पर मनुष्य इहलोक और परलोक को विकृत करता हुआ चरम पतन की स्थिति भी प्राप्त कर सकता है। मनुष्य जीवन में उत्कर्ष और पतन के दोनों द्वार खुले हैं। आणविक शक्ति का प्रयोग करने वाला मनुष्य संपूर्ण विश्व का विध्वंस कर सकता है और वही मनुष्य आध्यात्मिक शक्ति का प्रयोग करने पर परमात्म-पद को प्राप्त कर सकता है। मनुष्य के भीतर शक्ति है और उसके विकास और विनाश की पूरी संभावना है।

चेतना का विकास

संसार में भ्रमण करने वाली आत्माएं राग-द्वेष से युक्त होती हैं। राग-द्वेष की प्रवृत्ति से चेतना मलिन होती है और संसार भ्रमण की परम्परा निर्बाध बनती है। हिंसा, झूठ, चोरी, स्त्री-संसर्ग आदि पापकारी प्रवृत्तियों से चेतना का पतन होता है और इन सपाप प्रवृत्तियों से विरत होने पर चेतना का विकास होता है। ये दो भिन्न दिशागामी रास्ते हैं, जिनमें विकास और पतन की कहानी छिपी हुई है। विपरीत दृष्टिकोण, असीम इच्छा, प्रमादपूर्ण जीवन शैली, आवेश पूर्ण जीवन-शैली तथा सपाप प्रवृत्तिमय जीवन से व्यक्ति दुःख व क्लेश की ओर अग्रसर होता है। इसके विपरीत व्यक्ति सम्यक् दृष्टिकोण, इच्छा-संयम, जागरूक जीवन-शैली, आवेशमुक्त जीवन-शैली तथा निष्पाप प्रवृत्तिमय जीवन से सुख और शांति की ओर अग्रसर होता है। इन्द्रिय और मन के निग्रह का मार्ग सुख का मार्ग है और इन्द्रिय और मन को उच्छृंखल छोड़ देना दुःख का मार्ग है। राग-द्वेष से मुक्त चेतना वीतराग चेतना कहलाती है, इस अवस्था में आत्मा के पाप कर्म का बंध सर्वथा रुक जाता है। वीतराग बनने के पश्चात् संपूर्ण ज्ञान और दर्शन प्रकट हो जाते हैं और आत्मा सर्वज्ञता को उपलब्ध हो जाती है। कालान्तर में सर्वज्ञ सिद्ध बनकर जन्म-मरण की इस सुदीर्घ परम्परा से मुक्त हो जाते हैं। आत्म-मुक्ति का चरम बिन्दु प्राप्त कर वे आत्म-सुख में लीन हो जाते हैं। यह आत्म-विकास की उत्कृष्ट परिणति है। अन्तहीन सुख-संप्राप्ति के लिये प्राणीमात्र के लिये यही लक्षित मंजिल है। सम्यक् ज्ञान दर्शन चारित्र्य को पाने वाला अन्ततः इस विशुद्धतम चैतन्य अवस्था को पा लेता है। जीवन में अहिंसा, सत्य, प्रामाणिकता, पवित्रता, असंग्रह, संयम और तप की आराधना करने वाला इस आत्म-विकास की दिशा में उन्मुख हो जाता है। आत्मा के अस्तित्व में विश्वास, आत्मा को ही सुख-दुःख के लिये जिम्मेवार तथा बंधन-मुक्ति के लिये स्व पुरुषार्थ का स्वीकार आत्म विकास के नियामक घटक हैं। स्वयं को जानना ही जीवन की सफलता का मूल मंत्र है। पदार्थ जगत् को जान लेने से आत्म-विकास का पथ प्रशस्त नहीं हो जाता। आत्मानुभव के क्षण जीवन में जरूरी होते हैं। जब महान् वैज्ञानिक अलबर्ट आइंस्टीन से पूछा गया कि आप क्या बनना चाहते हैं ? आइंस्टीन ने कहा—मैं अगले जन्म में संत बनना चाहता हूँ जिससे मैं आत्म तत्त्व को जान सकूँ। इस जीवन में मैंने पदार्थ जगत् को जानने का प्रयत्न किया, अब मेरा संकल्प है कि मैं जानने वाले को जान सकूँ।

चेतना के आरोहण की प्रक्रिया

जैन दर्शन में आत्म-विकास की चौदह भूमिकाओं का विवेचन है, इन्हें गुणास्थान कहते हैं। ये आत्म-आरोहण के सोपान हैं। आरोहण का प्रथम बिन्दु है—सम्यक् दर्शन का विकास। जब तक आत्मा, कर्म-बंध, कर्म-फल, तपस्या और संयम का महत्व, मोक्ष की प्राप्ति, साधना और पुरुषार्थ—इन सभी विषयों में यथार्थ दृष्टिकोण नहीं बनता है, सम्यक् श्रद्धा पैदा नहीं होती है तब तक व्यक्ति मिथ्या दृष्टिकोण की गिरफ्त से मुक्त नहीं बन पाता। सम्यक् दर्शन की संप्राप्ति को आत्म-साक्षात्कार की दिशा में चरण-न्यास कह

सकते हैं। यथार्थ दृष्टिकोण के पश्चात् जीवन में त्याग, व्रत और संयम के विकास की आवश्यकता रहती है। कुछ व्यक्ति अपने सामर्थ्य की कमी के कारण संयम और व्रत का आंशिक पालन करते हैं, वे गृहस्थ साधक या श्रावक कहलाते हैं। कुछ व्यक्ति अपने संपूर्ण सामर्थ्य का नियोजन संयम और व्रत की आराधना में करते हैं, वे गृहत्यागी साधक या साधु कहलाते हैं। यह इच्छा-संयम के द्वारा आत्म-केन्द्रित बनने का प्रकर्ष प्रयोग है। इसमें समस्त पापकारी प्रवृत्तियों का यावज्जीवन के लिये त्याग हो जाता है। यह निष्पाप जीवन की मूल्यवान साधना है। इसमें उत्साह और जागरूकता की अभिवृद्धि होने पर साधु को अप्रमत्त अवस्था की प्राप्ति होती है। आत्म स्थित आवेश और विकार—क्रोध, मान, माया, लोभ आदि इस स्थिति में शीघ्रता से क्षीण होने लगते हैं। राग, द्वेष, मोह आदि के सर्वथा क्षीण होने पर साधु वीतराग कहलाते हैं। आत्मा को अपूर्व आत्मिक सुख की प्राप्ति हो जाती है। साधना का उद्देश्य उपलब्ध हो जाता है। वीतराग बनने के बाद साधु शीघ्र ही सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन जाता है। आत्मा के भीतर अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन और अनंत शक्ति प्रकट हो जाती हैं। ज्ञाता, द्रष्टा और सर्वज्ञ साधु अपने जीवन के शेषकाल में ध्यान-मुद्रा को स्वीकार कर निष्प्रकंप बन जाते हैं और अवशिष्ट कर्मों को क्षीण कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बन जाते हैं। आत्मा समस्त बंधनों से मुक्त बन जाती है। जन्म-मरण की प्रलंब परम्परा समाप्त हो जाती है और सदा के लिये आत्मा लोकान्त में स्थित हो जाती है।

चैतन्य विकास के आयाम

जैन धर्म में चैतन्य विकास के अनेक आयाम हैं। तप, जप, स्वाध्याय, ध्यान आदि अनेक ऐसे रास्ते हैं जो मंजिल तक पहुंचते हैं। वर्तमानिक परिप्रेक्ष्य में भारत के महान् संत श्री तुलसी और आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने मानव मात्र के कल्याण के लिये तीन अवदान-अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान और जीवन विज्ञान प्रदान किये हैं। अणुव्रत संकल्प की चेतना को जगाकर जीवन-शैली और आचार संहिता को परिष्कृत करने का महत्वपूर्ण कार्यक्रम है। जीवन में संयम और संकल्प की शक्ति जागने पर मनुष्य का जीवन स्वस्थ, सुखी, शांत और निरामय बनता है। प्रेक्षाध्यान रासायनिक परिवर्तन की प्रक्रिया है। स्वयं के भीतर गहराई में उतरकर स्वयं को देखना इसका प्राण तत्त्व है। चित्त की एकाग्रता, पवित्रता, जागरूकता, स्थिरता और वीतरागता इसकी मौलिक निष्पत्तियां हैं। भावों के परिष्कार और चैतन्य की शुद्धि का यह सहज-सरल प्रयोग है। शिक्षा को सर्वांगीण बनाने तथा विद्यार्थियों के चरित्र को समुन्नत करने के लिये जीवन विज्ञान का प्रकल्प महत्वपूर्ण है। बालक वय से ही जीवन में सुसंस्कारों का निर्माण तथा करुणा, मैत्री, सौजन्य, सहिष्णुता और अभय का विकास ही जीवन विज्ञान की शिक्षा का ध्येय है।

“श्रावकाचार की सामाजिक उपयोगिता”

—डॉ. अशोक कुमार जैन

जैन-धर्म भारत के प्राचीन धर्मों में प्रमुख धर्म है। जैनधर्म में निर्वृत्ति की प्रधानता है। उसका परम साध्य मोक्ष या आत्म-साक्षात्कार है। मोक्ष की प्राप्ति सम्यग्दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र्य की समन्विति में है। इनका मूर्तमान रूप श्रमण अवस्था में ही संभव है परन्तु प्रत्येक के लिए श्रमण धर्म का परिपालन संभव नहीं है, अतः जैनधर्म में गृहस्थ धर्म या सागार धर्म का भी अनेक ग्रन्थों में वर्णन किया गया है। गृहस्थ व्रती को उपासक, श्रावक, देशसंयमी, आगारी आदि नामों से अभिहित किया गया है। जैनधर्म सम्मत समाज व्यवस्था आत्मानुशासन पर केन्द्रित है। अनुशासन के सम्बन्ध में आचारांग वृत्ति में लिखा है। “अनुशास्यन्ते-सन्मार्गेऽवतार्यन्ते सदसद्विवेकतः प्राणिनो येन तदनुशासनम्” अर्थात् अपने सद-असद् विवेक से प्राणियों को सन्मार्ग में अवतरित करने के उपाय को अनुशासन कहते हैं।

“श्रावक धर्म प्रदीप” में श्रावक पद का अर्थ बताते हुए लिखा है—

अभ्युपेतसम्यक्त्वः प्रतिपन्नाणुव्रतोऽपि प्रतिदिवसं यतिभ्यः ।

सकाशात्साधूनामागारिणां च सामाचारीं शृणोतीति श्रावकः ॥2 ॥

जो सम्यक्त्वी और अणुव्रती होने पर भी प्रतिदिन साधुओं से गृहस्थ और मुनियों के आचार धर्म को सुने, वह श्रावक कहलाता है।

उपलब्ध जैन वाङ्मय में श्रावक धर्म का वर्णन तीन प्रकार से प्राप्त होता है—

1. ग्यारह प्रतिमाओं के आधार पर
2. बारह व्रत और मारणान्तिकी सल्लेखना का उपदेश देकर
3. पक्ष, चर्या और साधन का प्रतिपादन कर

धर्म शब्द भारतीय संस्कृति में नैतिक आचार और कर्तव्य के साथ ही वैयक्तिक आत्म गुण तथा धार्मिक पुण्य के लिए व्यवहृत हुआ है। नैतिक कर्तव्यों के रूप में धर्म का वर्गीकरण करते समय मुख्यतः तीन बातें लक्ष्य में रखी गयी हैं। 1. वैयक्तिक आत्मिक परिष्कार या उन्नयन 2. समाज के साथ सम्बन्ध 3. पारमार्थिक कल्याण। दूसरे शब्दों में नैतिक कर्तव्यों के विधान में वैयक्तिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास के साथ-साथ उसके सामाजिक पर्यावरण का भी ध्यान रखा गया है। वस्तुतः सदाचार या दुराचार का निर्णय केवल एक ही आधार पर नहीं होता है। उसमें आचरण का प्रेरक आन्तरिक पक्ष अर्थात् उसकी मनोदशा और आचरण का बाह्य परिणाम अर्थात् सामाजिक जीवन पर उसका प्रभाव दोनों ही विचारणीय हैं।

मोक्षमार्ग आध्यात्मिक दृष्टि से “व्यक्तित्व” के उत्थान की एक प्रक्रिया है और इस प्रक्रिया में साधक का स्वतः लौकिक दृष्टि से भी अभ्युदय होता है। इस दृष्टि से भारतीय संस्कृति में सामान्यतः अभ्युदय एवं निःश्रेयस् के साधक आचार-विचार को “धर्म” माना गया है। धर्म व्यक्ति को आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में अग्रसर करता हुआ उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित करता है, साथ ही साथ अधःपतन से भी रोकता है-यही उसकी द्विमुखी धारण प्रकृति है। आचार्य समन्तभद्र ने धर्म का उद्देश्य संसारी दुःखी प्राणी को उत्तम सुख में पहुंचाना माना है। उत्तम सुख मोक्ष की प्राप्ति में है।

जैन आचार का चिन्तन अध्यात्म की भूमि पर और उसका व्यवहार समाज के धरातल पर होता है। जैनधर्म के बारे में समाज में यह भ्रान्त धारणा है कि इसमें सामाजिक जीवन के चिन्तन की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है, इसमें यथार्थता नहीं है। यथासमय आचार्यों ने अपनी चिन्तनदृष्टि से सामाजिक विषमता के निवारण में तथा मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठापना में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

श्रावकाचार वस्तुतः सर्वोदय का ही पर्यायवाची है। सर्वोदय का आधार समता है। जैनधर्म में सामाजिक वैषम्य की किसी रूप में भी स्वीकृति नहीं है। जैन संस्कृति सामाजिक न्याय, मैत्री और समता पर बल देकर बंधुता की स्थापना करती है। भगवान महावीर ने जैन संस्कृति की पुनः स्थापना करते हुए इन सभी जीवन मूल्यों को समाज के लिए अनिवार्य माना है। मनुष्य के संस्कार संवर्धन के लिए उदात्त गुणों का ग्रहण जिस समाज में होगा, वह स्वयमेव सुसंस्कृत हो जायेगा। श्री बी.एस. सन्याल के अनुसार समाज उन दो या दो से अधिक मनुष्यों के समूह का नाम है जिसमें जन-कल्याण की भावना से मानव व्यवहारों का आदान-प्रदान होता है।

आचार्य सोमदेव संसारी गृहस्थों की समाज पर दृष्टि रखे हुए हैं। वह कहते हैं, “जिन भगवान का यह धर्म अनेक प्रकार के मनुष्यों से भरा है। जैसे मकान एक स्तम्भ पर नहीं ठहर सकता वैसे ही यह धर्म भी एक पुरुष के आश्रय से ही नहीं ठहर सकता। गृहस्थों के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा—

द्वौ हि धर्मो गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः ।

लौकाश्रयो भवेदाद्यः परः स्यादागमाश्रयः ॥ उपासकाध्ययन 476

अर्थात् गृहस्थों का धर्म दो प्रकार का है-एक लौकिक और दूसरा पारलौकिक। इनमें लौकिक धर्म लोक की रीति के अनुसार होता है और पारलौकिक धर्म आगम के अनुसार होता है। किस लौकिक विधि को अपनाया जाये, और किसको न अपनाया जाये इसके निर्णय के लिए सोमदेव ने यह कसौटी बतायी है—

सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः ।

यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ॥ उपासकाध्ययन 480

सभी जैनधर्मानुयायियों को वह लौकिक व्यवहार मान्य है जिससे उनके सम्यक्त्व में हानि न आती हो और न उनके व्रतों में दूषण लगता हो। समाज में सुखमय वातावरण की निर्मिति में भावनाओं का विशेष महत्व है। आचार्य सोमदेव ने लिखा है—

मैत्री प्रमोद कारुण्यमाध्यस्थानि यथाक्रमम् ।

सत्त्वे गुणाधिके क्लिष्टे निर्गुणेऽपि च भावयेत् ॥ उपासकाध्ययन 334

सब जीवों में मैत्रीभाव रखना चाहिए। जो गुणों में श्रेष्ठ हों उनमें प्रमोद भाव रखना चाहिए। दुःखी जीवों के प्रति करुणाभाव रखना चाहिए और जो निर्गुण हों, असभ्य और उद्धत हों उनके प्रति माध्यस्थ्य भाव रखना चाहिए।

व्यसन-मुक्त सामाजिक संरचना में श्रावकाचारों की महत्वपूर्ण भूमिका है। व्यसन शब्द “वि” उपसर्ग पूर्वक “अस्” धातु से बना है जिसका अर्थ होता है भ्रष्ट करना या गिराना। वसुनन्दि श्रावकाचार में सप्त व्यसनों के सम्बन्ध में लिखा है—

जूयं मज्ज मंसं वेसा पारद्धि चोर-परयारं ।

दुग्गङ्गमणस्सेदाणि हेउभूदाणि पावाणि ॥ 59 ॥

जूआ, शराब, मांस, वेश्या, शिकार, चोरी और परदार-सेवन-ये सातों व्यसन दुर्गति-गमन के कारणभूत हैं। इन दुर्व्यसनों का त्याग गृहस्थ धर्म की साधना का प्रथम चरण है। उनके त्याग को गृहस्थ-आचार के प्राथमिक नियम या मूलगुणों के रूप में स्वीकार किया गया है। महाकवि रङ्ग ने समस्त व्यसनों का मूल द्यूत-व्यसन को बतलाया है तथा उन्होंने लिखा है-

सव्वाण वसणाणं मूलं जूवं हि कलह दुहगेहं ।

इह परलोयविरुद्धं तं चयणिज्जं कथा कज्जं ॥ सिद्धान्तार्थसार 3/25

अर्थात् सहस्त्रों आपत्तियों का निवास जुएं में ही रहता है। धनं, धर्म, यश एवं मान-प्रतिष्ठा आदि सभी का विनाश द्यूत-व्यसन द्वारा हो जाता है।

आचार्य वादीभसिंह ने भी लिखा है—

व्यसनासक्तचित्तानां गुणः को वा न नश्यति ।

न वैदुष्यं न मानुष्यं नाभिजात्यं न सत्यवाक् ॥ क्षत्रचूडामणि

व्यसनासक्त मनुष्यों के कौन से गुण नष्ट नहीं होते? धर्म, विद्वत्ता, मानवता, कुलीनता और सत्यवादिता सभी नष्ट हो जाते हैं। बुरे व्यसनी व्यक्ति के दोनों लोक दुःखदायी होते हैं।

“करकण्डचरितु” में कवि ने व्यसनों को विष-वृक्ष की उपमा दी है। जैसे विषवृक्ष और उसके फल दूसरों के जीवन को समाप्त कर देते हैं, उसी तरह ये व्यसन व्यसनी व्यक्ति का जीवन तो बरबाद कर ही देते हैं उसके परिवार को भी संकटों में डाल देते हैं।

श्रावकाचारों का लक्ष्य सात्त्विक वृत्ति सम्पन्न समाज-निर्माण करना है। इस प्रकार के समाज निर्माण में आहार-संयम की महत्वपूर्ण भूमिका है। सागार धर्मामृत में लिखा है—

तत्रादौ श्रद्धज्जैनीमाज्ञां हिंसामपासितुम् ।

मद्यमांसमधून्यूज्ज्रेत्पञ्च क्षीरिफलानि च ॥ 2/2

गृहस्थ धर्म में सबसे पहले जिनागम की आज्ञा का श्रद्धान करते हुए हिंसा को छोड़ने के लिए देश संयम की ओर उन्मुख पाक्षिक श्रावक को मद्य, मांस, मधु, पांच क्षीरिफलों और मक्खन, रात्रि-भोजन तथा बिन छने जल आदि को छोड़ना चाहिए।

जैन परम्परा में आचरण की अपेक्षा से ही व्यक्ति को श्रेष्ठता प्रदान की है। सागारधर्मामृत में लिखा है कि आसन आदि उपकरण, मद्य आदि की विरति रूप आचार और शरीर की शुद्धि से विशिष्ट शूद्र भी जिनधर्म के सुनने के योग्य होता है, क्योंकि वर्ण से हीन भी आत्मा योग्य काल, देश आदि की प्राप्ति होने पर श्रावक धर्म का आराधक होता है। जैनधर्म में गृहस्थ के लिए जो आचार-संहिता निर्धारित की गयी है उसमें नैतिकता का मुख्य स्थान है। गृहस्थ सामाजिक प्राणी है। वह समाज में जीता है। उसका व्यवहार समाज को प्रभावित करता है। वही समाज स्वस्थ कहला सकता है जिसमें सामाजिक मान-मर्यादाओं एवं व्रतों के परिपालन की परम्परा हो।

श्रावकाचारों में श्रावक के 12 व्रतों का वर्णन प्राप्त होता है। आचार्य पूज्यपाद ने व्रत को परिभाषित करते हुए लिखा—“व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः इदं कर्त्तव्यमिदं न कर्त्तव्यमिति वा” अर्थात् अभिप्रायपूर्वक/ संकल्प पूर्वक किया गया नियम व्रत कहलाता है अथवा यह मेरे लिए कर्त्तव्य है, यह मेरे लिए अकर्त्तव्य है। इस प्रकार के विवेक को व्रत कहते हैं। आचार्य सोमदेव ने भी लिखा है—

संकल्पपूर्वकः सेव्ये नियमो व्रतमुच्यते।

प्रवृत्तिविनिवृत्ती वा सदसत्कर्म संभवे ॥ उपासकाध्ययन 3/6

सेवनीय वस्तु का इरादापूर्वक त्याग करना व्रत है अथवा अच्छे कार्यों में प्रवृत्ति और बुरे कार्यों से निवृत्ति को व्रत कहते हैं।

पण्डित प्रवर आशाधर जी लिखते हैं—

सम्यक्त्वममलमलान्यणु-गुण शिक्षाव्रतानि मरणान्ते ।

सल्लेखना च विधिना पूर्णः सागारधर्मोऽयम् ॥ सागारधर्मावृत्तः १/१२

शंका आदि दोषों से रहित सम्यग्दर्शन, निरतिचार अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत और मरण समय विधिपूर्वक संल्लेखना यह पूर्ण सागार धर्म है।

व्रतों में अहिंसा को प्रधानता दी गयी है। जो गृहस्थ संतोषपूर्वक जीवन यापन करता है, सीमित आरम्भ और सीमित परिग्रह रखता है वही अहिंसक है और ऐसे अहिंसक सद्गृहस्थ ही अहिंसक समाज की रचना कर सकते हैं। शीलवान व्यक्ति ही जगत् में पूज्यता को प्राप्त करता है। आचार्य सोमदेव ने लिखा है—

शीलवान् महतां मान्यो जगतामेक मण्डनम् ।

स सिद्धः सर्वशीलेषु यः सन्तोषमधिष्ठितः ॥ उपासकाध्ययन ७/५३

शीलवान् अर्थात् पवित्र आचरण वाला श्रावक यति, इन्द्र आदि से भी आदरणीय और जगत् के लोगों का एक उत्कृष्ट भूषण होता है। जो सन्तोष अर्थात् धर्म को धारण करता है वह समस्त शीलों या सदाचारों में सिद्ध होता है।

व्रतों की महत्ता न केवल धार्मिक दृष्टि से ही है अपितु सामाजिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। हिंसा की भावना समाप्त होने से पारस्परिक मैत्री-भाव की भावना बढ़ती है। सत्याणुव्रत के परिपालन से समाज में प्रामाणिकता का वातावरण बनता है। महाकवि रङ्ग ने लिखा है—

वाणी सच्चविहीणा शीलविहीणा य णारि साहरणा ।

धम्मोविय णिक्करूणा एदे जाणि णिंदणिज्जाहि ॥

सच्च पहासी पुरिसो गरूवउ मेरुत्व वणिउ लोए ।

सव्वाणं विस्सासो उप्पज्जइ तासु वयणेण ॥ सिद्धान्तार्थसार ३/१०५-१०६

अर्थात् सत्यविहीन वाणी, शील रहित नारी और करुणा से रहित धर्म महापुरुषों द्वारा निन्दनीय माने गये हैं। सत्यवक्ता पुरुष संसार में मेरु के शिखर के समान गौरव प्राप्त करता है। उसकी वाणी में सभी जन विश्वास करते हैं।

अपरिग्रह व्रत के पालन से समाज में समता का वातावरण बनता है। आवश्यकता से अधिक बढ़ती हुई वस्तुओं के संग्रह की मनोवृत्ति के कारण सामाजिक असंतुलन की समस्या उत्पन्न हो गयी है। लोगों की आवश्यक आवश्यकतायें पूरी होनी चाहिए परन्तु विलासिता की प्रवृत्ति का नियमन भी अपेक्षित है।

“जैनधर्म और जीवन मूल्य” में व्रतों की सामाजिक उपयोगिता के सन्दर्भ में डॉ. प्रेमसुमन जैन ने लिखा है—पांच अणुव्रतों के स्वरूप पर विचार करने से एक तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन व्रतों के द्वारा मनुष्य की उन वृत्तियों पर नियन्त्रण करने का प्रयत्न किया गया है जो समाज में मुख्य रूप से वैर-निरोध के जनक हैं। दूसरी यह बात ध्यातव्य है कि आचरण का परिष्कार सरलतम रीति से कुछ निषेधात्मक नियमों द्वारा ही किया जा

सकता है। व्यक्ति जो क्रियार्थ करता है वे मूलतः उनके स्वार्थ से प्रेरित होती है। उन क्रियाओं के हिताहित का निर्णय किन्हीं मापदण्ड के निश्चित होने पर ही संभव है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि सामाजिक पाप ही तो हैं। जितने ही अंश में व्यक्ति इनका परित्याग करेगा उतना ही वह सभ्य और समाज हितैषी बनता जायेगा और जितने अधिक व्यक्ति इन व्रतों का पालन करेंगे उतना ही समाज सुखी, शुद्ध और प्रगतिशील बनेगा। अतः इन व्रतों के विधान द्वारा जैन संस्कृति ने मानव के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के शोधन का प्रयत्न किया है, जो आध्यात्मिक विकास के लिए आधार है।

धर्म और समाज के लिए एक आवश्यक कार्य है साधर्मि भाइयों की मदद करना, उनके कष्टों को दूर करना और दूसरा आवश्यक कार्य है लोगों को धर्म में दीक्षित करना। आचार्य सोमदेव ने इन दोनों की ओर श्रावकों का ध्यान आकृष्ट किया है। उनका कहना है कि जो लोग सदाशय नहीं है उन्हें जैनधर्म की ओर लाने की प्रेरणा नहीं करनी चाहिए किन्तु जो स्वतः उस ओर आना चाहे तो उसके योग्य उसे सहायता करनी चाहिए। श्रावक के आवश्यक कार्यों में दान का विधान भी है। अमितगति श्रावकाचार में लिखा है—

दानं, पूजा जिनैः शीलमुपवासश्चतुर्विधः ।

श्रावकाणां मतो धर्मः संसारारण्यपावः ॥9/1॥

श्रावक को नित्य जिनेन्द्र की पूजा करनी चाहिए, गुरुओं की सेवा-उपासना करनी चाहिए, पात्रों को दान देना चाहिए तथा धर्म और यश बढ़ाने वाले कार्य लोक-रीति के अनुसार करने चाहिए।

आचार्य पद्मनन्दि ने गृहस्थाश्रम की पूज्यता बतलाते हुए लिखा है

आराध्यन्ते जिनेन्द्रा गुरुषु च विनतिर्धार्मिके प्रीतिरूच्चैः

पात्रेभ्यः दानमापन्निहत जनकृते तच्च कारुण्यबुद्ध्या ।

तत्त्वाभ्यासः स्वकीयव्रतरतिरमलं दर्शनं यत्र पूज्यं,

तद् गार्हस्थ्यं बुधानामितरदिहपुनर्दुःखदो मोहपाशः ॥

पद्मनन्दि पंचविशतिका 1/33

जिस गृहस्थाश्रम में जिनेन्द्रों की पूजा की जाती है, निर्ग्रन्थ गुरुओं की विनय की जाती है, धार्मिक पुरुषों के प्रति अत्यंत प्रीति रहती है, पात्रों को दान दिया जाता है, जो विपत्ति से ग्रस्त जन होते हैं उनकी करुणाभाव से मदद की जाती है, तत्त्वों का अभ्यास किया जाता है, अपने व्रतों से अनुराग होता है, निर्मल सम्यग्दर्शन होता है वह गृहस्थाश्रम विद्वानों के द्वारा भी पूज्य होता है। इसके विपरीत गृहस्थाश्रम तो दुःखदायक मोहपाश है।

जैन आचार शास्त्र में गृहस्थ के शिक्षाव्रतों में अतिथिसंविभागव्रत है जिसमें अतिथि को आहार, औषधि, शास्त्र का दान देना विहित है। आचार्य जिनसेन ने आदि पुराण में दयादत्ति, समदत्ति, पात्रदत्ति और अन्वयदत्ति ये चार प्रकार की दत्ति कही है। अनुग्रह करने योग्य प्राणियों के समूह पर दयापूर्वक मन, वचन, काय की शुद्धि के साथ

उनके भय दूर करने को दयादत्ति कहते हैं। महातपस्वी मुनियों के लिए सत्कारपूर्वक पड़गाह कर जो आहार आदि दिया जाता है उसे पात्रदान कहते हैं। क्रिया, मन्त्र और व्रत आदि से जो अपने समान है तथा संसार-समुद्र से पार कर देने वाला कोई अन्य उत्तम गृहस्थ है उसके लिए पृथ्वी, स्वर्ण आदि देना अथवा मध्यम पात्र के लिए समान बुद्धि से श्रद्धा के साथ जो दान दिया जाता है वह समानदत्ति कहलाता है। अपने वंश की प्रतिष्ठा के लिए पुत्र को समस्त कुलपद्धति तथा धन के साथ अपना कुटुम्ब समर्पण करने को अन्वयदत्ति कहते हैं।

सामूहिक तीर्थ यात्रायें तथा धार्मिक अनुष्ठान भी सामाजिक सम्बन्धों में प्रगाढ़ता के कारण बनते हैं। सागारधर्माभूत में लिखा है—

स्थूललक्षः क्रियास्तीर्थयात्राद्यादृग्विशुद्धये ।

कुर्यात्तत्प्रेष्टभोज्याद्याः प्रीत्या लोकानुवृत्तये ॥ 2/84

व्यवहार की प्रधानता देने वाले पाक्षिक श्रावक को सम्यग्दर्शनको निर्मल करने के लिए तीर्थयात्रा आदि क्रिया करनी चाहिए तथा लोगों के चित्त को अनुकूल करने के लिए प्रेमपूर्वक जीमनवार (भोज) करना चाहिए। समाज में दान देने से धार्मिक कार्यक्रमों द्वारा सम्बन्धों में प्रगाढ़ता आती है तथा पारस्परिक सहयोग की भावना का विकास होता है। सामाजिक कार्य पारस्परिक सहयोग के बिना संभव नहीं हो सकते। समाज में संघटन तथा संवेदनशीलता की भावना के कारण ही सुख-शान्ति का वातावरण बनता है। जिस समाज में धर्म और धार्मिक जनों के प्रति आदर का भाव होगा वहां पर भौतिक तथा आध्यात्मिक विकास का वातावरण स्वतः ही विकसित होगा।

इस प्रकार हम पाते हैं कि श्रावकाचार में वर्णित श्रावक चर्या विधान सामाजिक सन्तुलन में विशेष रूप से सहायक है। व्रतों के परिपालन से वैयक्तिक कल्याण के साथ समाज में विश्वास का वातावरण विकसित हो सकता है। आत्मानुशासन के उदय होने पर सामाजिक मान मर्यादाओं का परिपालन स्वतः ही लोगों में होने लगता है। आज दुर्व्यसनों के सेवन के कारण परिवारों में अशान्ति रहती है। यदि वे उनके दोषों को समझकर समीचीन मार्ग को स्वीकार करें तो उन परिवारों का जीवन सुख-शान्तिमय बन सकता है।

वरिष्ठ प्राध्यापक

जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म दर्शन विभाग

जैन विश्वभारती संस्थान,

लाडनू-341 306 (राजस्थान)

सर्वसार उपनिषद्... पद्यानुवाद

अनुवाद :—गोपाल भारद्वाज

(1)

बंधन क्या ?

क्या मोक्ष ?

विद्या-अविद्या क्या ?

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति व तुरीय

ये चारों भी होते क्या ?

अन्नमय, प्राणमय, मनोमय,

विज्ञानमय, आनंदमय

पंचकोष ये होते क्या ?

कर्ता, जीव, पंचवर्ग, क्षेत्रज्ञ, साक्षी

कूटस्थ, अंतर्यामी क्या ?

इसी प्रकार जीवात्मा, परमात्मा

और माया भी होते क्या ?

(2)

आत्मा ही ईश्वर, आत्मा ही जीव

तदपि, जो भी होता है आत्मविहीन

ऐसे शरीर में अहंभाव जो

वही जीव का है बंधन

और मोक्ष?

जब अहंकार का हो जाए

पूरा त्यागन।

(3)

अहं भाव को करती जो उत्पन्न

अविद्या है वह ही।

तथा अहं से मुक्त जो करे

वह ही विद्या कहलाती।

(4)

जब आत्मा सूर्यादि देवों की शक्ति से

मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार व दस इन्द्रियों से

इन चौदह अभिकरणों से

शब्द-स्पर्शादि विषय ग्रहण करे

तभी इसे आत्मा की जाग्रत अवस्था कहते,
जब स्थूल विषय तो जहां न हों
पर जाग्रति की वासना रहे
इन्हीं चौदह अभिकरणों से
जीव विषयादि भोगता है
तभी उसे
आत्मा की स्वप्न अवस्था कहते ।
जब ये चौदह अभिकरण शांत हो जाएं
भोगों का ज्ञान जब नहीं रहे
विषयादि भी ग्रहण न करे
तभी उसे आत्मा की
सुषुप्ति अवस्था कहते ।
जब आत्मा
उक्त तीनों अवस्थाओं के
उत्पत्ति व लय को जाने
इनसे निरन्तर परे रहे
ऐसा जो नित्य-साक्षी चैतन्य है
वह ही तो तुरीय चैतन्य है
और इसे
इसे ही आत्मा की तुरीय अवस्था कहते।

(5)

अन्न से निर्मित कोषों के
समूह स्वरूप शरीर धरे को
अन्नमय कोष कहते ।
जब प्राण आदि चौदह वायु
इस अन्नमय कोष का संचार करते
तब उसे प्राणमय कोष कहते ।
जब इन दो कोषों के भीतर
मन इन्द्रियादि चौदह अभिकरणों से
करता विषयों का चिन्तन
इसे मनोमय कोष कहते ।
जब आत्मन
इन तीनों कोषों से युक्त हो

बुद्धि द्वारा बोध करे
इसके बुद्धिमय स्वरूप को
तब विज्ञानमय कोष कहते
जब आत्मन
इन चारों कोषों के साथ
बड़ के बीज में वृक्ष की तरह
अपने कारणरूप अबोध में रहता है
तब उसे आनंदमय कोष कहते ।

(6)

जब अंतर में
सुख-दुःख की दृष्टि से
इष्ट की इच्छा रहती
यही सुख-बुद्धि,
और जो अनिष्ट की आशंका रहती
यही दुःख-बुद्धि ।
सुख को पाने
दुःख को त्यागने
जीव जो भी क्रियाएं करता
उन्हीं के कारण
वह जीव कर्ता कहलाता ।
शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध सब ये
पांच विषय सुख-दुःख के कारण हैं
पुण्य-पाप कर्मों का
अनुसरण करने वाला आत्मा
शरीर की संयोग प्राप्ति को
अप्राप्त होते हुए भी
जब प्राप्त देखे
उसे ही जीव कहते ।

(7)

मन आदि, प्राण आदि
इच्छा आदि, सत्त्व आदि
पुण्य आदि

इनका पंच समूह जो है
 पंच वर्ग इसको कहते।
 इस पंच वर्ग के
 स्वभाव वाला जीवात्मा
 बिना ज्ञान के
 इनसे मुक्ति न पा सकता
 मन आदि सूक्ष्म तत्वों की उपाधि
 जो आत्मा को सदैव प्रतीत होती
 वही लिंग शरीर कहलाती
 और वही हृदय-ग्रंथि ।

(8)

उसमें प्रकाशित चैतन्य जो है
 वह ही क्षेत्रज्ञ कहलाता है।

(9)

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की
 उत्पत्ति तथा लय का ज्ञाता
 स्वयं उत्पत्ति-लय रहित जब आत्मा
 तब यह साक्षी कहलाता ।

(10)

ब्रह्मा से ले चींटी तक में
 सभी की बुद्धि में रहने वाला
 इन्हीं सभी के स्थूल, सूक्ष्मादि
 देहों का नाश हो जाने पर
 जो शेष रहता दिखाई देता
 वही कूटस्थ कहा जाता ।

(11)

इन कूटस्थ आदि उपाधि भेदों में
 निज स्वरूप के लाभ के लिए
 जो आत्मा समस्त शरीर में
 माला के धागे सा पिरोया जान पड़ता
 वही अन्तर्यामी कहलाता।

(12)

सत्य, ज्ञान, अनंत, आनंदरूप
 सर्व उपाधि रहित आत्मा
 कड़ा, मुकुट आदि नाम रहित हो
 केवल शुद्ध स्वर्ण जैसा
 ज्ञान और चैतन्य रूप में
 आत्मा जब भासमान होता
 तब ही ऐसी विशुद्धता को
 त्वं नाम से पुकारा जाता ।

ब्रह्म, सत्य, अनंत, ज्ञानरूप
 जो आत्मा है अविनाशी
 है सत्य वही।

देश, काल, वस्तु आदि
 इन सबका नाश होने पर भी
 जिसका नाश न होता है
 वह आत्मा ही अविनाशी ।

उत्पत्ति, विनाश से रहित
 नित्य चैतन्य जो है
 उसको ही ज्ञान कहते ।

जो मिट्टी की निर्मितियों में मिट्टी सा
 सोने की निर्मितियों में सोने सा
 सूत की निर्मितियों में सूत सा
 समस्त सृष्टि में
 पूर्ण व व्यापक बना हुआ
 चैतन्य होता
 वही अनंत कहा जाता ।

जो सुखमय चैतन्य स्वरूप है
 जो अपरिमित आनन्द समुद्र है
 जो शेष रहे सुख का स्वरूप है
 वही आनंद है ।

(13)

ये चार

(सत्य, ज्ञान, अनंत, आनंद)

जिसके लक्षण हैं

और देश, काल, वस्तु आदि

निमित्तों के होने पर भी

जिसमें परिवर्तन नहीं होता है

उसी को 'तत्'

अथवा परमात्मा कहते हैं ।

(14)

इन दोनों

'त्वं' व 'तत्' भेदों से पृथक्

आकाश की तरह सूक्ष्म

और सत्ता मात्र जिसका स्वभाव

वह ही 'परब्रह्म' ।

(15)

जो अनादि

पर जिसका भी होता है अंत

जो प्रमाण-अप्रमाण में

समान रूप से है उपस्थित

जो न सत्, न असत्,

और न सत् असत्

दिखे सर्वाधिक विकार रहित
ऐसी शक्ति माया कहलाती ।

इसका वर्णन ही ऐसा

अन्य तरह नहीं हो सकता

यह माया

अज्ञान स्वरूपा, तुच्छ, मिथ्या

पर मूढ़ों को

तीनों कालों में

इसका अस्तित्व जान पड़ता

इसीलिये

यह कहकर कि वह ऐसी ही है

इसे यथार्थतः

अन्यथा समझाया नहीं जा सकता ।

(16)

मैं उत्पन्न नहीं होता हूँ

मैं दस इन्द्रियां नहीं हूँ

बुद्धि नहीं हूँ

मन नहीं हूँ

नित्य अहंकार भी नहीं हूँ

(17)

मैं तो सदैव

बिना प्राण और बिना मन के

शुद्ध स्वरूप हूँ

बिना बुद्धि का साक्षी हूँ

सदैव चित् स्वरूप हूँ

मेरा तो स्वरूप ऐसा

इसमें संशय क्या !

(18)

मैं कर्ता नहीं हूँ

भोक्ता भी नहीं हूँ

केवल प्रकृति का साक्षी हूँ

और समीपत्व के कारण

देह आदि को सचेतन का अभ्यास होता

और वह वैसी ही क्रियाएं करता ।

(19)

मैं तो स्थिर, नित्य

सदैव आनन्द रूप

शुद्ध ज्ञानमय निर्मल आत्मा हूँ

मैं सब प्राणियों में श्रेष्ठ हूँ

साक्षी रूप व्याप्त मैं हूँ

मेरा तो स्वरूप ऐसा
इसमें संशय क्या !

(20)

मैं समस्त वेदान्त द्वारा जाना गया
ब्रह्मा ही हूँ
मैं आकाश, वायु आदि वस्तु नहीं हूँ
मैं रूप नहीं हूँ, नाम नहीं हूँ, कर्म नहीं हूँ
वरन केवल
सच्चिदानंद स्वरूप ब्रह्म ही हूँ

(21)

मैं देह नहीं हूँ
तो फिर मुझे

जन्म-मरण कहाँ से हो?
मैं प्राण नहीं हूँ
तो फिर मुझे
भूख-प्यास कैसे लगे?
मैं मन नहीं हूँ
तो फिर मुझे
शोक-मोह किसका हो?
मैं कर्ता नहीं हूँ
तो फिर मेरा
बंधन व मोक्ष कैसा?
इति
यह संवाद !
यह उपनिषद् !!

3, विश्वविद्यालय मार्ग
जोधपुर (राजस्थान)

जैन ग्रन्थों में वर्णित भगवान् पार्श्व के कतिपय विचारणीय प्रसंग

—डॉ. जिनेंद्र जैन

भगवान् पार्श्वनाथ भारतीय संस्कृति के एक जाज्वल्यमान नक्षत्र के रूप में आज भी जाने जाते हैं। वैदिक और श्रमण संस्कृति के रूप में प्राप्त भारतीय परम्परा को देखने पर यह कहा जा सकता है कि वे श्रमण-संस्कृति के उन्नायक तो थे ही, वैदिक परम्परा की यज्ञ-याग प्रधान प्रवृत्ति को भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर मुखरित करने का श्रेय भी भगवान् पार्श्व को ही है। निष्कर्ष रूप में आज यह भी स्वीकारा जाता है कि उपनिषद् साहित्य में प्राप्त विस्तृत आध्यात्मिक चर्चा को भगवान् पार्श्व की ही देन कहा जा सकता है।

भगवान् पार्श्व के जन्मकाल, नामकरण, आयु, वंश-कुल, माता-पिता, विवाह आदि व्यक्तित्व के कतिपय बिन्दुओं पर जैन साहित्य में भिन्न-भिन्न उल्लेख प्राप्त होते हैं। उनकी साधना और जीवन-दर्शन सम्बन्धी मान्यताओं पर भी चिन्तन करने का एक अवसर हो सकता है, किन्तु यहां पार्श्व के वैयक्तिक बिन्दुओं को जैन आगम व अन्य जैन साहित्य के संदर्भ में खोजने का एक लघु प्रयास किया गया है।

जैन आगमों में भगवान् पार्श्व के जन्म से लेकर निर्वाण तक की अनेक घटनाओं का विवेचन किया गया है। समवायांग और कल्पसूत्र सहित चउप्पनमहापुरिस-चरियं, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, उत्तरपुराण, पद्मपुराण, महापुराण, सिरिपास-णाहचरिउ, श्रीपार्श्वनाथचरितं, पासणाहचरिउ, आवश्यक निर्युक्ति प्रभृति अनेक

ग्रन्थों में पार्श्व का विवेचन किया गया है। पार्श्व का विवेचन करने वाले सभी ग्रन्थ उनकी जन्मस्थली वाराणसी होने का उल्लेख करते हैं।¹ यह भारत की 10 प्रमुख राजधानियों में से एक थी।²

भगवान पार्श्व का जन्म ई.पू. 849 में हुआ था।³ जैन ग्रंथों में यह उल्लिखित है कि बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के बाद 83750 वर्ष बीतने पर पार्श्व उत्पन्न हुए तथा पार्श्व के जन्म के 250 वर्ष बीतने पर महावीर का जन्म हुआ।⁴ तीर्थंकरों के काल में अन्तर के संदर्भ का उल्लेख तिलोयपण्णती के अतिरिक्त सभी जैनग्रन्थों में एक जैसा ही किया गया है। तिलोयपण्णती⁵ में नेमिनाथ और पार्श्व के कालमान में अन्तर 84650 वर्ष दिया हुआ है। इस प्रकार 900 वर्ष का अन्तर विद्वानों के लिए अनुसंधान का विषय बन जाता है। भगवान् पार्श्व की आयु 100 वर्ष थी, यह उल्लेख सभी ग्रन्थों में एक जैसा ही प्राप्त होता है।⁶

भगवान् पार्श्व की जन्मतिथि में एक दिन का अन्तर जैन ग्रन्थों में मिलता है। कल्पसूत्र⁷, चउप्पनमहापुरिसचरियं⁸, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितं⁹ तथा सिरिपासणाहचरियं¹⁰ ग्रन्थों में पार्श्व का जन्म पौषकृष्णा दशमी की मध्यरात्रि को विशाखा नक्षत्र में होने का उल्लेख है। जबकि तिलोयपण्णती¹¹ उत्तरपुराण¹², पद्मपुराण¹³ आदि ग्रन्थों के आधार पर पार्श्व का जन्म पौषकृष्णा एकादशी को अनिलयोग/विशाखा नक्षत्र में हुआ था। एक दिन का अन्तर यद्यपि अधिक या विशेष महत्त्वपूर्ण इसलिए नहीं कहा जा सकता कि पौष कृष्णा दशमी की मध्यरात्रि के तुरन्त बाद से ही एकादशी प्रारम्भ हो जाना संभव है। और सम्भवतः दशमी की मध्यरात्रि को प्रारम्भ होने वाले नक्षत्र का कालमान एकादशी प्रारम्भ होने तक जा सकता है। किन्तु अलग-अलग तिथियों का उल्लेख विद्वानों के लिए चिन्तन हेतु अवसर उपस्थित कर देता है।

भगवान् पार्श्व के नामकरण को लेकर भी भिन्न-भिन्न संदर्भ जैनग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। आवश्यकनिर्युक्ति¹⁴, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितं¹⁵ सिरिपासणाहचरियं¹⁶ आदि ग्रन्थों में पार्श्व की माता के द्वारा नामकरण का उल्लेख मिलता है। इन ग्रन्थों में पार्श्व की माता के द्वारा गर्भकाल में अंधेरी रात्रि के समय सर्प को देखे जाने से उनके जन्म-पश्चात् माता द्वारा घटना का स्मरण होने पर पार्श्व नाम दिया गया। जबकि उत्तरपुराण¹⁷ और पद्मकीर्तिकृत पासणाहचरिउ¹⁸ में इन्द्र ने बालक का नाम 'पार्श्व' रखा। अतः नामकरण-कर्ता के प्रसंग में भी भिन्न-भिन्न संदर्भ प्राप्त होते हैं।

पार्श्व के वैयक्तिक जीवन का विवेचन अनेक ग्रन्थों में किया गया है। उनके माता-पिता के नामों में भी भिन्न-भिन्न नाम प्रयुक्त हुए हैं। पार्श्व के पिता का नाम अश्वसेन और माता का नाम वामादेवी कुछ कृतियों में प्राप्त होता है।¹⁹ जबकि उत्तरपुराण में विश्वसेन और ब्राह्मी नाम पिता-माता के लिए प्रयुक्त हुए हैं।²⁰ पद्मकीर्तिकृत पासणाहचरिउ²¹ तथा रङ्धुकृत पासणाहचरियं में पिता का नाम हयसेन दिया गया है, जबकि माता का नाम वही ब्राह्मीदेवी ही प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार तिलोयपण्णती²² में

पार्श्व की माता का नाम वर्मिला दिया गया है, जबकि पिता का नाम हयसेन ही निर्दिष्ट है। इसके अतिरिक्त वादिराज ने माता का नाम ब्रह्मदत्ता लिखा है।²³ उक्त विवेचन के संदर्भ में विचार करते हुए यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में एक राजा के अनेक नाम होने के भी संदर्भ इतिहास में भरे पड़े हैं अथवा राजसिंहासनस्थ होने के पश्चात् नये नाम से उस राजा की कीर्ति फैलने के कारण नाम परिवर्तन की परम्परा देखी जाती है। उक्त नामों में पिता का नाम अश्वसेन और हयसेन पर्यायवाची के रूप में भी स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु पिता के लिए विश्वसेन तथा माता के नाम वामादेवी, ब्राह्मी, ब्रह्मदत्ता वमदिवी²⁴ तथा वर्मिला आदि सभी विद्वानों की परिषद् को विचार-विमर्श का अवसर प्रदान करते हैं।

भगवान् पार्श्व ने जो चातुर्यामि धर्म चलाया, वह अनगर एवं गृहवासी दोनों के लिए ग्राह्य कहा जा सकता है। क्योंकि तीर्थकरों के द्वारा तीर्थ (श्रमण-श्रमणी, श्रावक-श्राविका) की रचना की जाती है। उत्तराध्ययनसूत्र, व्याख्याप्रज्ञप्ति, स्थानाङ्ग आदि आगमों में 'चाउज्जाम' धर्म का उल्लेख मिलता है।²⁵ याम शब्द हिंसा, झूठ, चोरी एवं परिग्रह जैसी चार कुप्रवृत्तियों को पूर्णरूप से रोकने के लिए प्रयुक्त हुआ है। यह उल्लेख आगमों में मिलता है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थकरों को छोड़कर शेष मध्य के 22 तीर्थकरों ने चातुर्यामि धर्म का ही उपदेश किया है।²⁶ किन्तु इस तथ्य से भिन्न संदर्भ भी प्राप्त होता है कि महावीर से पूर्व पांच महाव्रतों का उपदेश अन्य किसी भी तीर्थकर ने नहीं किया।²⁷ इस विषय में समाधान रूप उत्तराध्ययन के टीकाकार शान्त्याचार्य की उक्ति स्वीकार की जानी चाहिए कि ब्रह्मचर्यात्मक पांचवें महाव्रत सहित शेष चार धर्म ही चातुर्यामि है।²⁸ आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है कि भगवान् पार्श्व के अनुयायियों ने भी महावीर के 5 महाव्रत स्वीकार किये थे। इसी के साथ यहां यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि महावीर एवं ऋषभ ने सामायिक संयम का उपदेश न देकर छेदोपस्थापनीय संयम का उपदेश दिया तथा मध्य के शेष 22 तीर्थकरों ने सामायिक संयम का ही उपदेश दिया। इसके लिए आगमों में ये संदर्भ दिए गये हैं कि ऋषभ और महावीर काल में वक्र एवं जड़बुद्धि शिष्यों के होने से छेदोपस्थापनीय संयम का विवेचन किया गया, जबकि मध्य के 22 तीर्थकरों के काल में सरल व ऋजुबुद्धि शिष्यों के होने से सामायिक संयम का उपदेश दिया गया।²⁹ यह धारणा सभी जैन ग्रन्थों में इसी रूप में पल्लवित हुई है।

भगवान् पार्श्व के वंश एवं कुल सम्बन्धी विवेचनों में भी भिन्न-भिन्न संदर्भ प्राप्त होते हैं। आचार्य भद्रबाहु ने लिखा है कि मुनिसुव्रत एवं अरिष्टनेमि गौतम गोत्र के थे तथा शेष 22 तीर्थकर काश्यपगोत्रीय थे।³⁰ उत्तरपुराण में भी पार्श्व के इसी काश्यपगोत्र में उत्पन्न होने का उल्लेख मिलता है। किन्तु पुष्पदन्तकृत महापुराण³¹ में 'उग्रवंशाय' और त्रिषष्टिशालाकापुरुषचरित्र³² एवं पार्श्वनाथचरितं³³ में 'इक्ष्वाकु' वंश लिखा हुआ है। जबकि पार्श्वचरित सम्बन्धी कुछ प्रमुख ग्रन्थों जैसे समवायांग, कल्पसूत्र, पद्मपुराण, पासणाहचरित आदि में गोत्र/वंश विषयक विवेचन प्राप्त नहीं होता।

इस प्रकार भगवान् पार्श्व के वैयक्तिक जीवन के संदर्भ में कुछ विचारणीय बिन्दुओं को प्रश्न के रूप में ही यहाँ रखा गया है, जिनका समाधान ढूँढ़ना स्वतंत्र रूप से शोध का विषय हो सकता है।

संदर्भ-सूची

1. (क) समवायाङ्ग 250/24
(ख) इहेव जम्बूदीवे भारहे वासे वाराणसीए णयरीए—कल्पसूत्र, 149
(ग) उत्तरपुराण (गुणभद्राचार्य) 73/75
(घ) पद्मपुराण (रविषेण) 20/59
(ङ) पासणाहचरिउ (पद्मकीर्ति) 8/1
2. (क) ठाणं—सूत्र, 10
(ख) निशीथसूत्र, 9/19
(ग) दीर्घनिकाय, महापरिनिब्बाने में चम्पा, राजगृह, श्रावस्ति, साकेत, कौशाम्बी और वाराणसी का नाम मिलता है।
3. भगवान् महावीर का जन्म ई.पू. 599 में हुआ था तथा भगवान् महावीर से 250 वर्ष पूर्व पार्श्व हुए, इस संदर्भ के आधार पर (ई.पू. 599 + 250 वर्ष) ई.पू. 849 वर्ष में पार्श्व का जन्म होना स्वीकार किया जाता है।
4. (क) नभ्यन्तरे खपञ्चस्वराग्न्यष्टमितवत्सरे।
प्रान्ते हन्ता कृतान्तस्य तदभ्यन्तरजीवितः ॥—उत्तरपुराण 73/93
(ख) पद्मपुराण, 20/89-90
5. पण्णासाधियछस्सयचुलसी-दिसहस्स-वस्सपरिवत्ते।
नेमिज्जिणुप्पत्तीदो उप्पत्ती पासणाहस्स ॥— तिलोयपण्णत्ती, 4/576
6. (क) उत्तरपुराण, 73/94 (ख) पद्मपुराण, 20/122
7. कल्पसूत्र, 151
8. चउप्पनमहापुरिसचरियं, पृ. 258
9. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितं, पर्व 9/स. 3
10. सिरिपासणाहचरियं (देवभद्र)— 3/140
11. तिलोयपण्णत्ती— 4/548
12. उत्तरपुराण, 73/90 (अनिलयोगे)
13. पद्मपुराण—20/59
14. आवश्यकनिर्युक्ति, 1091
15. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितं, 9/3/471
16. पासोवसप्पिणं सुमिणयम्मि सप्पं पलोइत्था—सिरिपासणाहचरियं, गाथा 11, प्र. 3
17. जन्माभिषेक कल्याण पूजानिर्वृत्यनन्तरम्।
पार्श्वीभिधानं कृत्वास्य पितृभ्यां तं समर्पयन् ॥ उत्तरपुराण, 73/92
18. अट्ठंगु करिवि बालहो पणाउ, सईं सुखइ पासु थवेवि णाउ।
-पासणाहचरिउ, 8/23
19. (क) समवायाङ्ग, 157 राया य आससेणे य, सिद्धत्थच्चिय खत्तिए।
(ख) आससेणस्स रन्नो वम्माए देवीए—कल्पसूत्र, 149

- (ग) रायाणामण आससेणो ति । वम्माहिहाणा सयलंतेउरपहाणा
अगमहिंसी—चउप्पन., पृ. 257
- (घ) आससेणो नाम नरवई.... वम्मोदेवीए कुच्छिसि समुप्पन्नो... । सिरिपासणाहचरियं
20. वाराणस्यामभुद्विश्वसेनः काश्यपगोत्रजः ।
ब्राह्मस्य देवी सम्प्राप्तवसुधारादिपूजना ॥ उत्तरपुराण 73/75
21. हयसेणु वसइ तहिं णरवरिंदु ।...
X X X X
तहो वम्मदेवि णामेण भज्ज ॥ पासणाहचरिउ, 8/1,2
22. हयसेणवम्मिल्लार्हि जादो हि वाणारसीए पासजिणो । —तिलोयपण्णत्ती, 4/548
23. पार्श्वनाथ चरित्र-9/95/5
24. वाराणसी विशाखा च पार्श्वो वर्मा धवोऽङ्गधिप्रः ।—पद्मपुराण 20/59
25. (क) अश्वसेनश्च ते राजन, दिशन्तु मनसो धृतिम् ॥—भगवतीसूत्र 3/5/108
* (ख) स्थानाङ्ग 328
(ग) उत्तराध्ययन सूत्र, 23/13
26. स्थानांगसूत्र
27. चारित्र्यभक्ति, 7
28. चातुर्याम ... स एव मैथुनविरमणात्मकः पञ्चमब्रतसहितः ।—उत्तराध्ययन टीका, 23
29. मूलाचार 7/535, 537
30. मुणिसुव्वओ य अरिहा, अरिट्ठनेमी य गोयमसगुत्ता ।
सेसा तित्थयरा खलु कासवगुत्ता मुणेयव्वा ॥—आवश्यक निर्युक्ति, गाथा. 381
31. महापुराण 94/22/23
32. त्रिषष्टि पर्व 9/सर्ग 3
33. इक्खगुवंसंसंभूयभूवइभालतिलयभूओ, आससेणो नाम नरवई ।—पासणाहचरियं, पृ. 3

वरिष्ठ व्याख्याता
प्राकृत एवं जैनागम विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान
लाडनू-341 306 (राजस्थान)

भारतीय न्यायशास्त्र में अवयव-विमर्श

—डॉ. प्रद्युम्नशाह

अवयव शब्द अव उपसर्ग पूर्वक 'यु' धातु से अच् प्रत्यय (अव+यु+अच्) के योग से बना है। अवयव का सामान्य अर्थ है अंग। वे अंग जिनके आधार पर वाणी द्वारा दूसरे को अनुमिति करायी जाती है, अवयव कहलाते हैं। अवयव का प्रयोग परार्थानुमान में होता है। अनुमान प्रमाण है उसके दो भाग हैं—1. स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। अनुमाता जब साध्य का खुद ज्ञान करता है तो वह स्वार्थानुमान है और जब वह अपने ज्ञान का बोध दूसरे को कराता है तब उसे परार्थानुमान का सहारा लेना पड़ता है।

अनुमान को प्रमाण मानने वाले सभी न्यायविदों ने अवयवों की उपादेयता पर बल दिया है। अवयव कितने माने जाएँ और उनका क्रम क्या रहे, इस पर सबमें सहमति नहीं है। इसलिए आचार्यों की मान्यता में भेद दिखायी देता है। ऋषि वात्स्यायन अवयव को परिभाषित करते हुए कहते हैं—'सिद्ध करने योग्य साध्य धर्म विशिष्ट धर्मी अथवा धर्मी विशिष्ट साध्यधर्म अर्थ की जितने शब्दों के समुदाय से सिद्धि हो उस शब्द समूह को अवयव कहते हैं।'

न्यायसूत्र के अनुसार अवयव सातवाँ पदार्थ माना गया है।¹ प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण उपनय, निगमन² आदि उसके पाँच भेद हैं जिनका प्रयोग इस प्रकार है—

1. शब्द प्रमाण का प्रतिज्ञा³ में (पर्वत वह्निमान है)
2. अनुमान का हेतु⁴ में (धूमवान होने से)
3. प्रत्यक्ष का उदाहरण⁵ में (जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ आग है जैसे रसोई घर में)

4. उपमान का उपनय⁶ में (महानस के समान वह्नि की व्याप्ति से युक्त धूमवाला वह पर्वत है।)

5. सब प्रमाणों का वह्नि रूप अर्थ को सिद्ध करने में जो सामर्थ्य प्रदर्शन है उसका निगमन⁷ में (इस प्रकार पर्वत वह्निमान है।)

उक्त पांच अवयवों के योग से जो एक न्यायवाक्य बनता है, भाष्यकार उसे परम न्याय कहते हैं।

जिस अनुमान से दूसरे को अनुमिति होती है उसे परार्थानुमान कहा जाता है। न्यायवाक्य का प्रयोग दूसरे को अनुमिति कराने के लिए होता है। इसीलिए न्यायवार्तिकार ने न्याय वाक्य के अवयवों को 'पर प्रतिपादक' कहा है।⁸

दिङ्नाग के पूर्व बौद्धदर्शन में भी पांच अवयव माने गये हैं।⁹ किन्तु दिङ्नाग ने पाँच के स्थान पर पक्ष, हेतु और दृष्टान्त केवल तीन ही अवयवों को मानना प्रारम्भ किया।¹⁰

उद्योतकर के विचार में वाक्य के एक देश को अवयव कहते हैं। वाचस्पतिमिश्र ने भी उद्योतकर के मत का अनुसरण किया है। जयन्तभट्ट ने सिद्धान्त का विश्लेषण करते हुए कहा कि अवयवों का लक्षण अवयवत्व है न कि पदत्व।

जैन तर्कशास्त्र में अनुमान के अवयवों का सर्वप्रथम संकेत हमें आचार्य गृद्धपिच्छ के तत्त्वार्थ सूत्र में मिलता है। गृद्धपिच्छ ने अनुमान का उल्लेख अनुमान शब्द द्वारा नहीं किया। न उन्होंने अवयवों का निर्देश अवयव रूप में किया है पर उनके द्वारा सूत्रों में प्रतिपादित आत्मा के उर्ध्वगमन सिद्धान्त से प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त, ये तीन अवयव फलित होते हैं। उन्होंने मुक्त जीव के उर्ध्वगमन की सिद्धि में परार्थानुमान के निम्न अवयवों को प्रस्तुत किया है। यथा¹¹—

1. तदनन्तरमूर्ध्वगच्छत्यालोकान्तात्।
2. पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च।
3. अविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबूवदेरण्डबीजवदग्निशिखाच्च।

उपरोक्त सूत्रों में 'ऊर्ध्वगच्छन्त्यालोकान्तात् ऊर्ध्वगमन रूप प्रतिज्ञा (पक्ष) है। अगले सूत्र में 'पूर्वप्रयोगात्', 'असङ्गत्वात्', 'बन्धच्छेदात्' और 'तथागति परिणामात्' प्रतिज्ञा को पुष्ट करने के लिए चार हेतु दिये गये हैं। उक्त चार हेतुओं के समर्थन के लिए चार दृष्टान्त प्रयुक्त किये गये हैं। 'आविद्धकुलाल चक्रवत्', 'व्यपगलेपालाबूवत्', 'एरण्डबीजवत्' और 'अग्निशिखावत्' ये चार दृष्टान्त प्रयुक्त हैं। इस प्रकार सूत्रकार ने प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण के रूप में तीन अवयवों का प्रयोग कर अनुमान-वाक्य को पुष्ट किया।

श्रीमदाचार्य गृद्धपिच्छप्रणीत तत्त्वार्थसूत्र के वृत्तिकार श्रीमदाचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि की उत्थानिकाओं में सूत्रकार के मन्तव्य को स्पष्ट किया है, इससे अभिप्राय की पुष्टि होती है। इन्होंने बताया कि हेतु के कथन किये बिना उर्ध्वगमन रूप जो प्रतिज्ञा है

उसका निश्चय नहीं होगा। हेतुओं का प्रयोग होने पर भी उसके समर्थन में दृष्टान्त का कथन किये बिना अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती, केवल हेतु का कथन ही पर्याप्त नहीं है।¹²

सर्वार्थसिद्धि में तत्त्वार्थसूत्र के विचारों की सम्पुष्टि से एक विद्वान् ने कुछ निष्कर्ष निकाले हैं जो अक्षरशः मान्य लगते हैं।

(1) गृद्धपिच्छ ने प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त का शब्दविधया कथन भले ही न किया हो, पर अपने अभिप्रेत अर्थ को सिद्ध करने के लिए उनका अर्थतः निर्देश अवश्य किया है।

(2) पूज्यपाद ने सूत्रकार के कथन का समर्थन न्यायसरणिका का अनुसरण करके किया है। अतः नामतः निर्देशन न होने पर भी सूत्रकार अवयव त्रय से परिचित थे। अतः व्याख्याकार या भाष्यकार अपने युग के विचारों के आलोक में प्राचीन तथ्यों के स्पष्टीकरण के साथ नवीन तथ्यों को प्रस्तुत करता है।

अतः प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त के स्पष्टीकरण को हम पूज्यपाद की विचारधारा नहीं मान सकते। पूज्यपाद ने गृद्धपिच्छ की मान्यता का ही स्फोटन कर उक्त अवयवत्रय की मान्यता को अंकित किया है।

(3) गृद्धपिच्छ के अवयवत्रय के संकेत को पूज्यपाद ने तर्क का रूप दिया है। यही कारण है कि उन्होंने प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त इन तीन के औचित्य का समर्थन किया है।

(4) जैन न्याय के अवयव-विचार का सूत्रपात संकेत रूप से तत्त्वार्थ सूत्र में मिल जाता है। अतएव अवयवों की मान्यता का मूल श्रेय जैन तर्कशास्त्र में आचार्य गृद्धपिच्छ को प्राप्त है।

पूज्यपाद ने अपने जैनेन्द्र व्याकरण में चतुष्टयं समन्तभद्रस्य (4/5/140) सूत्र के द्वारा समन्तभद्र का उल्लेख किया है, अतः वे समन्तभद्र से निश्चित ही पश्चाद्वर्ती हैं।¹³

समन्तभद्र ने भी गृद्धपिच्छ के समान उक्त अवयवत्रय का नामतः उल्लेख किये बिना अनुमेय की सिद्धि प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त इन तीनों अवयवों से की है। आप्तमीमांसा में प्रतिज्ञा हेतु की प्रासंगिकता पर बल दिया गया है। उन्होंने हेतु और प्रतिज्ञा का प्रयोग एक तथ्य पर विचार करते हुए किया है, यथा—यदि माना जाय कि अनुमान से विज्ञप्ति (विशिष्ट जानकारी) की सिद्धि होती है तो अनुमान में भी साध्य और साधन की विज्ञप्ति को विज्ञान रूप मानने में दोष आते हैं।¹⁴

अवयवों के स्वरूप और उनकी संख्या पर भाष्यकार वात्स्यायन ने सूत्रकार गौतम का अनुकरण किया है। गौतमोक्त पंचावयवों के अतिरिक्त जिन अन्य पाँच अवयवों को भाष्यकार ने गिनाया है उनका स्वरूप निर्धारित करते हुए उन्होंने इन अवयवों की निरर्थकता को भी बताया है। वे पाँच अवयव जिज्ञासा, संशय, शक्य प्राप्ति, प्रयोजन, संशयव्युदास आदि हैं। उनका स्वरूप विवेचन निम्न प्रकार है—

1. जिज्ञासा- 'जिज्ञासा' अप्रतीयमान अर्थ में प्रत्यक्षार्थ की प्रवर्तिका होती है, अप्रतीयमान अर्थ की इसलिए जिज्ञासा होती है कि उसे तत्त्वतः जानकर छोड़ दूंगा या ग्रहण कर लूंगा या उपेक्षा कर दूंगा।¹⁵

2. संशय-जिज्ञासा के अधिष्ठान को संशय कहा जाता है।¹⁶ उदाहरणतया किसी वस्तु की उपादेयता, अनुपादेयता या अपेक्षणीयता के बारे में भेद संदेह होने पर जिज्ञासा होती है, अतः साध्य विषयक संदेह का नाम ही संशय है।

3. शक्य प्राप्ति-प्रमाणों में अर्थ के अधिगम की जो क्षमता है, उसको ही शक्य प्राप्ति कहते हैं।¹⁷

4. प्रयोजन - तत्व का निश्चय करना ही प्रयोजन कहलाता है।¹⁸

5. संशयव्युदास-प्रतिपक्ष को उपस्थापित कर उसका प्रतिबोध करना संशय व्युदास है।¹⁹

युक्तिदीपिकाकार ने भी प्रतिज्ञा आदि के साथ जिज्ञासा, शक्यप्राप्ति, प्रयोजन और संशयव्युदास की गणना करते हुए अवयवों की संख्या दस बताई है—²⁰

वात्स्यायन ने जिज्ञासा आदि पञ्चावयवों को बतलाया तत्पश्चात् अनुमान में उनकी निष्प्रयोजनता को भी स्पष्ट कर दिया और यह कहा-ये वस्तुतः अवयव नहीं अपितु अवयवों के सहचर है। जिज्ञासा आदि अवयव नहीं है क्योंकि-

1. ये हान, उपादान, उपेक्षा बुद्धियाँ तत्त्वज्ञान के लिए होती हैं। तत्त्वज्ञान में ही जिज्ञासा काम आती है। जैसे-वर्तमान वाक्य 'पर्वतो वह्निमान धूमवत्त्वात्' में यह किसी अर्थ की साधिका नहीं है।

2. संशय से परस्पर दो कोटियों का ज्ञान होता है। संदेह करने मात्र से किसी तथ्य की सिद्धि नहीं होती है।

3. यह 'शक्य प्राप्ति' साधक वाक्य में प्रतिज्ञा की तरह अवयव रूप से प्रयुक्त नहीं होती।

4. प्रयोजन तो वाक्य का फल है न कि वाक्य का एक देश।

जयन्त भट्ट का कथन है कि प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयव से कम या अधिक अवयव नहीं होंगे।

परार्थानुमान जिसे प्रायः सभी दार्शनिकों ने वचनात्मक माना है। उसमें नैयायिकों ने दूसरों के प्रतिपत्ति के लिए पञ्चावयव का प्रयोग किया है। वे पञ्चावयव निम्न प्रकार हैं-

1. प्रतिज्ञा-पर्वत वह्निमान है।

2. हेतु-धूमवान होने से।

3. उदाहरण-जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ आग है जैसे रसोई घर में।

4. उपनय-महानस के समान वह्नि से युक्त धूमवाला यह पर्वत है।

5. नियमन-इस प्रकार पर्वत वह्निमान है।

उक्त प्रकार के पंचावयव से दूसरा व्यक्ति भी धूमलिंगक वह्नि की अनुमिति कर लेता है।

बौद्धाचार्य न्यायदर्शन व जैन दर्शन की पंचावयवी मान्यता से सहमत नहीं है। ध्यातव्य है कि बौद्धाचार्यों ने पंचावयवों का समर्थन कभी नहीं किया। दिङ्नाग ने पक्ष, हेतु, दृष्टान्त तीन अवयवों को बताया। धर्मकीर्ति ने द्वयवयव को ही महत्त्व दिया, वे हैं- हेतु और दृष्टान्त।

जैनाचार्यों ने एक, दो, तीन, चार और पांच अवयव वाली मान्यता को भी वर्णित किया है।

अकलंक ने पक्ष और हेतु दो ही अवयवों को समीचीन बतलाया है। उन्होंने दृष्टान्त को भी ग्राह्य बतलाया है किन्तु वह सर्वत्र ग्राह्य नहीं है।²¹ माणिक्यनन्दि²², प्रभाचन्द्र²³, देवसूरि²⁴ भी आचार्य अकलंक और विद्यानंद का अनुगमन करते हैं। आचार्य हेमचन्द्र²⁵ एवं अभिनव धर्मभूषण²⁶ भी अकलंक की मान्यता का समर्थन करते हैं।

वादिदेवसूरि ने धर्मकीर्ति की तरह अतिव्युत्पन्न मति वाले विद्वान् के लिए केवल हेतु का प्रयोग बतलाया है। अन्य सभी जैनाचार्य चाहे वे दिगम्बर परम्परा के हों या श्वेताम्बर उन्होंने न्यूनतम दो अवयव अवश्य स्वीकार किये हैं। प्रतिपाद्यों के आधार पर तीन-चार और पांच अवयवों को भी मान्यता दी है।

आचार्य धर्मभूषण ने पहले स्वीकृत परम्परा के अनुरूप वाद कथ्य की अपेक्षा से और अधिक अवयवों के भी प्रयोग का समर्थन किया है। जैसा कि उन्होंने कहा है- वीतराग कथा में तो शिष्यों के आशयानुसार प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अवयव हैं। प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण ये तीन भी। प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण और उपनय ये चार भी हैं तथा प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये पांच भी हैं। इस प्रकार यथायोग रूप प्रयोगों की यह व्यवस्था है।²⁷ ऐसा कहते हुए धर्मभूषण श्री कुमारिनन्दि भट्टारक के कथन को उद्धृत करते हैं। यथा-प्रयोगों के बोलने की व्यवस्था प्रतिपाद्यों के अभिप्रायानुसार करनी चाहिए। 'जो जितने अवयवों से समझ सके (अनुमान कर सके) उसके लिए उतने अवयवों का प्रयोग करना चाहिए।'²⁸

ऊपर वर्णित सभी आचार्यों की भांति आचार्य यशोविजय ने भी पक्ष और हेतु दो ही अवयव माने हैं। यह मान्यता समर्थ प्रतिपत्ता के लिए है।²⁹ असमर्थ के लिए दृष्टान्त का प्रयोग करते हैं। जो दृष्टान्त में हेतु का प्रयोग नहीं जानता उस प्रतिवत्ता के लिए उपनय का प्रयोग³⁰ तथा जो उपनय के पश्चात् भी आकांक्षा रखता है उसके लिए निगमन अवयव का प्रयोग किया जाता है।³¹

जैनाचार्यों द्वारा वर्णित अवयवों की मान्यता में विशेष रूप से पक्ष और हेतु दो अवयव मान्य हैं। उनकी यह मान्यता उनके एक लक्षण हेतु की मान्यता को पुष्ट करती है, क्योंकि कहा है-साधन से साध्य का विशेष ज्ञान ही अनुमान प्रमाण है।³¹ जैनाचार्यों ने सिषाधयिषित असिद्ध और अबाधित साध्य को पक्ष कहा है।³² इस प्रकार पक्ष और हेतु क्रमशः साध्य व साधन के रूप में वर्णित हैं और अन्यथानुपपन्नत्व रूप एक लक्षण हेतु के आधार है।

बौद्धाचार्यों ने अधिक से अधिक तीन अवयवों को माना है। यथा-हेतु, दृष्टान्त और उपनय। उन्होंने प्रतिज्ञा और निगमन को अवयव नहीं माना है।

बौद्ध नैयायिकों का कहना है जो हेतु (लिंग) साध्य का नियत है अर्थात् व्याप्य है और वह साध्य धर्मों में (अर्थात् पक्ष में) देखा जाता है तो उसके आधार पर ही वहाँ की आवश्यकता नहीं है। इसी बात को धर्मकीर्ति इस प्रकार कहते हैं, 'द्वयोरप्यनयोः प्रयोगो नावश्यं पक्ष निर्देशः'³⁴ परार्थानुमानयोः साधर्म्यवत् और वैधर्म्यवत् रूप में दो प्रकार से होता है। इन दोनों प्रकारों में पक्ष निर्देश की आवश्यकता नहीं है। पक्ष निर्देश शब्द को व्याख्यायित करते हुए रूसी न्यायशास्त्री श्चरवात्स्की का कहना है कि यहाँ पक्ष निर्देश शब्द को व्याख्यायित करते हुए पक्ष निर्देश शब्द से नैयायिकों का प्रतिज्ञा वाक्य व निगमन वाक्य इन दोनों का ग्रहण करके उन्हें अनावश्यक बताया गया है। धर्मकीर्ति यह बताना चाहते हैं कि तादात्म्य और तदुत्पत्ति के द्वारा साध्य धर्म से प्रतिबद्ध साधन को जानना होता है, इसलिए वहाँ पक्ष को निर्देश करने की आवश्यकता नहीं है। साध्य का व्याप्त हेतु जब पक्ष में दिखाई पड़ रहा है जैसे— यत् सत् तत् क्षणिकं यथा घटः सन् च शब्द इति शब्दः क्षणिकः। यहाँ पर सत्त्व हेतु है, उदाहरण घट है। सन् च शब्दः यह उपनय है। तीन वाक्यों से जब शब्द का क्षणिकत्व सिद्ध हो जाता है तब उसके लिए प्रतिज्ञा और निगमन वाक्य की कोई आवश्यकता नहीं है। निगमन वाक्य तो प्रतिज्ञा को फलितार्थ रूप में रूपान्तरित करता ही है। यहाँ पर ध्यातव्य है कि सत्त्व हेतु क्षणिकत्व का साध्य है और वह साध्य धर्मों पक्ष साध्य में देखा जाता है। अतः उसके द्वारा शब्द के क्षणिकत्व की सिद्धि में कोई बाधा नहीं है। इस प्रकार बौद्धदर्शन परार्थानुमान के लिए अवयवों के प्रयोग में प्रतिज्ञा और निगमन को अनावश्यक मानता है किन्तु जैन दर्शन बौद्ध की इस मान्यता का निराकरण करता है। यद्यपि जैन दर्शन हेतु के नैयायिकाभिमत पंचरूप को और बौद्धाभिमत त्रिरूप से सहमत नहीं है। वह प्रतिपत्ता की समझने की क्षमता के आधार पर पंचावयव हेतु के प्रयोग को करने में कोई आपत्ति नहीं करता है।

सन्दर्भ :-

1. प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजाति निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञाननिःश्रेयसाधिगमः--न्यायसूत्र 1/1/1
2. प्रतिज्ञाहेतुदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः—वही 1/1/32
3. साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा-वही 1/1/33
4. उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुः - वही 1/1/34
5. साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् 1/1/36
6. उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः वही 1/1/38
7. हेत्वपदेशात्प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम् 1/1/39
8. न्यायवार्तिक 1/1/32
9. यथा पंचावयववाक्य साधनार्थम्-तर्कशास्त्र पृ. 5

10. पक्ष हेतु दृष्टान्त वचनैर्हिप्राशिनिकानाम् प्रतीतोऽर्थप्रतिपाद्यत इति—न्यायप्रवेश पृ. 1.
11. तत्त्वार्थ सूत्र 10/5, 6, 7
12. अनुपदिष्टहेतुकमिदम्ध्वगमनं कथमध्यवसातुं शक्यमिति? अत्रोच्यते आह—हेत्वर्थः पुष्कलोऽपि दृष्टान्तसमर्थनमन्तरेणाभिप्रेतार्थसाधनायनालमिति उच्यते—सर्वार्थसिद्धि 10/6,7 उत्थानिकाएँ
13. आप्तमीमांसा प्रस्तावना पृ. 34
14. साध्यसाधन विज्ञप्तेर्यदि विज्ञप्तिमात्रता । न साध्य न च हेतुश्च प्रतिज्ञा हेतुदोषतः ॥ आप्तमीमांसा 80.
15. तत्राप्रतीयमानेऽर्थे प्रत्ययार्थस्य प्रवर्तिका जिज्ञासा । अप्रतीयमानमर्थं कस्मान्जिज्ञासते ? तं तत्त्वतो ज्ञातं हास्यामि वोपादास्य उपेक्षिव्ये वेति ।—न्यायभाष्य 1/1/32
16. जिज्ञासाधिष्ठानं संशयश्च-वही
17. प्रमातुः प्रमाणानि प्रमेयाधिमर्थानि, सा शक्यं प्राप्तिर्न साधकस्य वाक्यस्य भागेन युज्यते प्रतिज्ञादिवदिति ।—वही
18. तत्त्वावधारणम्-वही
19. संशयव्युदासः प्रतिपक्षोपवर्णनं तत्प्रतिषेधेन तत्त्वाभ्यनुज्ञानार्थम्-वही
20. भारतीय न्यायशास्त्र पृ. 206
21. सर्वत्रैव न दृष्टान्तो अनन्वयेनापि साधनात् ।
अन्यथा सर्वभावानाम् सिहोऽयं क्षणक्षयः ॥ न्याय. वि.का. 38
- 22-23. एतद्वयमेकानुमानाङ्गोदाहरणम् प.मं.3/37, प्र. क.मा. 3/37
24. पक्ष हेतु वचनमवयवद्वयमेव परप्रतिपतेरंगं न दृष्टान्तादि वचनम्-प्र.न.त. 3/28
25. एतावान् प्रेक्षप्रयोग :-2/1/9
26. तस्मिंश्च वादे परार्थानुमानवाक्यस्य (प्रतिज्ञा हेतुरित्त्वयवयक द्वयमेवोपकारकम्), नोदाहरणादिकम्—न्यायदीपिका 3/34 पृ. 80
27. वीतरागकथायां तु प्रतिपाद्याशयानुरोधेन प्रतिज्ञाहेतुद्वावयवौ, प्रतिज्ञाहेतूदाहरणानि त्रयः, प्रतिज्ञा हेतूदाहरणोपनयाश्चत्वारः, प्रतिज्ञा हेतूदाहरणोपनय निगमनामि वा पञ्चेति यथायोग प्रयोग परिपाटी-न्याय दी. 3/36 पृ. 82
28. 'प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः'—वादन्याय,
29. पक्षहेतुवचन लक्षणमवयवद्वयमेव च परप्रतिपत्यंगं न दृष्टान्तादिवचने-जैनतर्कभाषा पृ. 16
30. यस्तु दार्ष्टान्तिके हेतुं योजयितुं न जानीते, तं प्रत्युपनयोऽपि-वही
31. एवमपि साकाङ्क्षं प्रति च निगमनम्-वही
32. साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्-प्रमाण मीमांसा 2/27
33. सिषाधयिसितमसिद्धमबाध्यं साध्यं पक्षः-वही 2/13
34. द्वयोरप्यनयोः प्रयोगयोनविश्यं पक्षनिर्देशः—न्यायबिन्दु 3/34

सहायक समन्वयक, दूरस्थ शिक्षा
जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय)
लाडनू -341 306 (राजस्थान)

पाण्डुलिपि विवेकमञ्जरी प्रकरण : एक अध्ययन

—प्रमोद कुमार लाटा

प्राकृत साहित्य में तीर्थंकरों, महापुरुषों और आचार्यों आदि की स्तुतियाँ परम्परा अनुसार प्राप्त होती हैं। आगम साहित्य में भी यह परम्परा देखने को मिलती है। आचार्यों ने भक्तिवशात् और अपने इष्ट के प्रति समर्पण हेतु अनेक प्रकार से स्तुतियाँ और स्रोत आदि लिखे हैं। प्रकरण के रूप में भी विवेक को आधार मानकर उसका स्वरूप, महत्व और उसके फल आदि को प्रदर्शित करने के लिए महाकवि आसड ने विवेकमञ्जरी नामक प्रकरण ग्रन्थ लिखा। यह आकार में लघु होते हुए भी जैनदर्शन और कथा के बीजों को समाविष्ट किए हुए है।

विवेकमञ्जरी नामक प्रकरण ग्रंथ की प्रति जैन विश्वभारती संस्थान के ग्रंथागार से मुझे प्राप्त हुई। संग्रहणीय पाण्डुलिपियों की सूची में पुष्पा नं. 268/पुस्तक क्रमसंख्या 1547 पर अंकित यह पाण्डुलिपि कुल आठ पन्नों (सोलह पृष्ठ) में है। संस्थान के ग्रंथागार में दो प्रति उपलब्ध थी। स्नातकोत्तर में लघुशोध प्रबन्ध हेतु इस कृति को सम्पादन के लिए चयन किया। किन्तु समयबद्धता के कारण अन्यत्र इसकी खोज करना सम्भव नहीं हो पाया। अन्यथा सुदूर स्थित ग्रंथागारों में इस कृति के प्राप्त होने की संभावना हो सकती थी। फिर भी मैंने एक ही प्रति के आधार पर इसका अनुवाद एवं अध्ययन किया है। इसलिए भविष्य में अन्य प्रतिलिपियों के उपलब्ध हो जाने पर संपादन का अवसर खुला है।

इस कृति में महाकवि आसड ने परम्परा का निर्वाह करते हुए सर्वप्रथम मंगलाचरण किया है। जिसमें तीर्थंकर महावीर को प्रणाम करते हुए विवेकमञ्जरी प्रकरण को कहने का कवि ने उल्लेख किया है। ग्रन्थ का प्रारम्भ इस प्रकार है—

अथ—

सिद्धपुरसत्थवाहं वीरं नमिऊण वरं जिणनाहं ।
सवणसुहारससरिअं वुच्चामि विवेगमंजरी अं ॥1 ॥
रचनाकार ने ग्रन्थ के अन्त में संक्षिप्त प्रशस्ति देते हुए कहा है—
रइयं पगरणमेयं जिणपवयणसारसंगहेण मए ।
सम्मसम्मत्त वियसेडंबरं दिव्वउ भवियाणं ॥143 ॥
सिरिभिन्नमालनिम्मलं कुलसंभवकडुयरायतणएण ।
इय आसडेण रइयं वसुजलहिदिणेसवरिसंमि ॥ 144 ॥

इति श्री विवेकमंजरी प्रकरणं संपूर्णं

“जिन प्रवचन के सार-संक्षेप से मैंने यह प्रकरण रचा है जो भव्य जीवों के लिए सम्यक् सम्यक्त्व रूप दिव्य धर्म को विकसित करता है।

श्री भिल्लमाल (भिन्नमाल) नामक पवित्र क्षत्रिय वंश में उत्पन्न कटुकराज के पुत्र आसड ने 1248 (वि.सं.) वर्ष में इसकी रचना की।” (वसु-8, जलहि-4, दिनेस-12)

इस कृति में रचनाकार ने टीका भी दी है जिसकी भाषा स्पष्ट प्रतीत नहीं होती, किन्तु अध्ययन से लगता है कि गुजराती भाषा में लिखी इस टीका में अपभ्रंशों और राजस्थानी का पूर्ण प्रभाव है।

(1) परिचय

महाकवि आसड द्वारा रचित विवेकमंजरी प्रकरण में कुल 144 गाथाएं हैं। रचनाकार द्वारा दी गई अपनी प्रशस्ति से यह पता चलता है कि भिन्नमाल (भिल्लमाल) नामक क्षत्रिय वंश में कटुकराज के आप पुत्र थे। जिन्होंने विवेकमंजरी ग्रंथ लिखा। इनकी पृथ्वीदेवी और जैतल्ल नाम की दो पत्नियां थीं। जैतल्ल देवी से इन्हें राजड और जैत्रसिंह नाम के दो पुत्र हुए थे।¹ इनकी उपदेशकंदली और विवेकमंजरी पर वृत्ति, कालीदास कृत मेघदूत पर टीका और अनेक स्रोत काव्यों जैसी रचनाएं प्राप्त होती हैं।² विवेकमंजरी की वृत्ति में जो प्रशस्ति कवि आसड ने दी है उससे ज्ञात होता है कि इन्हें कलिकाल गौतम, कवि सभाश्रृंगार और बाल सरस्वती पदवियां (अलंकरण) प्राप्त थीं।³ उन्होंने अपने राजड पुत्र की तरुण अवस्था में हुई मृत्यु से उत्पन्न शोक में अभयदेवसूरी द्वारा बोध प्राप्त कर विवेकमंजरी नामक काव्य की रचना वि. सं. 1248 में की। अपने समय का उल्लेख करते हुए कवि आसड ने लिखा है कि ‘इय आसडेण रइयं वसुजलहिदिणेसवरिसंमि’ अर्थात् वसु-8 जलहि-4 और दिनेस-12 इस प्रकार का उल्लेख कवि की अपनी रचना वैशिष्ट्य का द्योतक है। रचनाकार ने 1248 को कौनसा संवत् माना है, इसका स्पष्ट उल्लेख प्रति में नहीं किया है। किन्तु मध्ययुग में वि.सं. का प्रचलन होने से इसे विद्वानों ने 1248 वि.सं. की कृति ही माना है।⁴

(2) विषयवस्तु (सारांश)

महाकवि आसड द्वारा रचित विवेकमंजरी एक प्रकरण ग्रन्थ है। उन्होंने स्वयं ग्रंथ समाप्ति पर इसे प्रकरण ग्रंथ कहा है। संसार में आया, जन्म लिया हुआ जीव यदि विवेकहीन हो तो सामाजिक दायित्वों के निर्वहन में सक्षम नहीं हो सकता। इसलिए कवि ने विवेक को भूषण की संज्ञा देते हुए प्रत्येक मानव को उससे सुशोभित होने की आवश्यकता पर बल दिया है।

विवेकमञ्जरी में रचनाकार ने तीनों मंगल के माध्यम से ग्रंथ की सफलता चाही है। आदि मंगल के रूप में मंगलाचरण, मध्यमंगल के रूप में चतुःशरण, गुणी जनों का गुणानुवाद और अन्तमंगल के रूप में माया, मोह आसक्ति को त्याग कर धर्म की शरण लेने की बात कही है। अतः रचनाकार ने ग्रंथ की विषय वस्तु को सुन्दर शैली में प्रस्तुत किया है जिसका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है—

विवेकमंजरी के प्रारम्भ में महावीर स्वामी को वंदन किया गया है, क्योंकि वे विवेक रूप दीपक से युक्त होते हैं तथा जीवों को परमार्थ का ज्ञान कराते हैं। इसके पश्चात् विवेक की महिमा बतलायी गई है जो कर्मों को क्षयोपशम करने में सहायक है तथा मोक्ष का मार्ग दिखाने वाला है। विवेक के भूषण के रूप में मन की शुद्धि का उल्लेख किया गया है।

इस शुद्धि के चार कारण बतलाकर उनका विस्तार से निरूपण किया गया है। वे चार कारण इस प्रकार हैं—

1. चतुः शरणों की प्रतिपत्ति अर्थात् उनका स्वीकार
2. गुणों की सच्ची अनुमोदना
3. दुष्कृत्यों (पापों) की निन्दा
4. बारह भावनाएं

(i) चतुः शरणों की प्रतिपत्ति अर्थात् उनका स्वीकार

चार शरणों में क्रमशः अरिहंत देव, सिद्ध साधु और जिन के द्वारा निर्दिष्ट करुणापूर्ण और स्मरणीय धर्म को शरण कहा गया है। 24 तीर्थकरों को और भविष्यत् कालीन 24 तीर्थकरों को प्रणाम किया है। नंदीश्वर, अष्टापद, शत्रुंजय ऊर्जयन्त एवं सम्मेद शिखर आदि शुभ तीर्थों को एवं लोक में स्थित जिनालय, अढाई द्वीप एवं पन्द्रह कर्मभूमियों में स्थित साधु-महात्माओं, गणधरों, चक्रवर्ती और नव बलदेव आदि को, बाहुबली, सनत्कुमार, गजसुकुमाल, ढंढणकुमार स्थूलभद्र, स्कन्धक मुनि, चिलातिपुत्र, सुकोसल, वैसे ही श्रेष्ठ शालिभद्र का कथानक कहकर कवि कहता है—इस प्रकार कठोर नियमों को धारण करने वाले प्रज्ञावान वीर जिनेन्द्र भगवान महावीर को मैं नमन करता हूं।

वज्रस्वामी, मुनिआर्य क्षमाश्रमण, सुदर्शन, दशार्णभद्र, प्रसन्नचन्द्र, कूरगडुअ महर्षि, अभयकुमार, जम्बूस्वामी, विष्णुकुमार यहां तक सभी मुनियों के प्रसंगानुसार दृष्टांत दिए गए हैं तथा भिन्न-भिन्न मुनियों का नामोल्लेख किया गया है। जैसे—शायम्भव,

प्रभव, श्री उदायन, केशी, चिलातिपुत्र, मेघकुमार और पुण्डरीक, आर्द्रक कुमार, साधु कीर्तिधर, नन्दिसेन, करकण्डू, हल्ल, विहल्ल, शाल, महाशाल, सिंहगिरि आर्य महागिरि, आर्यरक्षित, शांब कुमार, प्रद्युम्नमुनि, कुमापुत्र और भद्रगुप्त आदि एवं अन्य महामुनि गण जो भयंकर भव-भ्रमण को नाश करने वाले हैं तथा जिनशासन रूप आकाश के विभूषण स्वरूप चन्द्रमा हैं, वे मुझे सिद्धि सुख को प्रदान करें।

इस प्रकार मुनि-ऋषि आदि को प्रणाम कर आगे गाथा 55-59 में तीर्थकरों की माताओं का एवं यतियों का नामोल्लेख किया गया है। जैसे सीतादेवी, सुलसा, राजीमती, मदनरेखा, दमयंती, आर्य चन्दनबाला, मनोरमा, विलासवती, अंजनासुंदरी, नर्मदासुन्दरी शिवा, धारिणी चिल्लाण देवी, प्रभावती, कलावती, रेवती, देवकी, ज्येष्ठा (भगवान महावीर की पुत्री), सुज्येष्ठा (चेटक की पुत्री), पद्मावती, नन्दा, भद्रा, सुभद्रा, ऋषिदत्ता, मृगावती आदि ये श्लाघ्या महासतियां हैं।

लेखक द्वारा बताया गया है कि 24 तीर्थकरों, अरहंतों, सिद्धों, आचार्यों, साधुओं, चैत्यों, सिद्धान्तों और पवित्र यतियों की आसातना मेरे द्वारा की गई हो तो वह दुष्कृत मिथ्या है। अतः पद, अक्षर और मात्राओं में अधिकता अथवा हीनता के लिए लेखक तीर्थकरों की प्रकाशित वाणी को प्रमाण मानते हुए क्षमायाचना करता है।

(ii) गुणों की सच्ची अनुमोदना

वीतरागियों द्वारा कथित धर्म अहिंसा लक्षण युक्त है। उसे गुणों के रत्नाकर रूप बताया गया है जो मोक्ष सुख का मार्ग है। यहां यतियों और श्रावक के क्रमशः 10 और 12 व्रतों के भेदों का उल्लेख किया है।

(iii) दुष्कृत्यों (पापों) की निन्दा

काल, जीव और भव-परम्परा को अनादि बताते हुए एकेन्द्रियादि, स्थावरजीव एवं त्रस, देवादि चतुर्गति, चौरासी लाख संख्या वाले जीव-योनियों में परिभ्रमण करते हुए भर्त्सित, त्यक्त, तिरस्कृत, हिंसित, स्नेहित, संघटित, विघटित, पीडित, कंपित, परितापित होते हुए जीवन को धारण किए रहते हैं। इन्हें कृत-कारित-अनुमोदित आदि कर्मों के लिए मन-वचन-काय से क्षमा करता हूं तथा अपनी आत्मा को भी क्षमा करता हूं और मिथ्या दुष्कृत्यों की निन्दा एवं गर्हा करता हूं। इस प्रकार सभी आत्म तत्त्वों से क्षमायाचना की गई है, जिससे इनके प्रति मैत्री-भाव परिणामित हो सके।

क्षमा के पश्चात् प्रव्रज्या को महत्व देते हुए श्रमण आदि के लिए त्याज्य पापों में हिंसादि अठारह पापों को मन-वचन-काय से परित्याज्य कहा गया है। कुतीर्थ, गलत संगति एवं गलतवास, अपलाप का मार्ग एवं गलत कर्मों को प्रच्छन्न पाप, देह द्रव्य, परिवार, स्वजन जीव हिंसा एवं पूर्व में बांधे गए बैर भावों का परित्याग, प्राणिवध के जो अधिकरण (हल, मूसल उखल आदि) हैं, उनका मन-वचन-काय से तथा पन्द्रह कर्मादान (कर्मागमन) के साधन परित्याग योग्य हैं; क्योंकि अंतिम श्वासों में पवित्र, अदूषित, गठीला शरीर भी कष्टपूर्वक छूट जाता है। इसीलिए चतुर्विध आहार का परित्याग

कर, अनगार बन, सुकृत कर्मों का अनुमोदन करके और सभी पापकर्मों का परित्याग करके धीर पुरुष प्रव्रज्या धारण करे तथा पुण्यबोधि को प्राप्त करे।

(iv) बारह भावनाएं (अनुप्रेक्षा)

जो जीव ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र (रत्नत्रय) से विभूषित होता है वह जीव दोषों से अदूषित होता है तथा इहलोक एवं परलोक में भी सुखी होता है। चतुःशरण प्रतिपन्न जीवन संसार से वैराग्य युक्त होता है तथा अनित्यादि सभी भावनाओं को भाता है।

रचनाकार ने सभी अनुप्रेक्षाओं का क्रमानुसार वर्णन किया है। अनुप्रेक्षाओं के उल्लेख में संसार की यथास्थिति का चित्रण करने के संदर्भ में बहुत सुन्दर वर्णन किया है।

(3) वैशिष्ट्य

भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकारों का विशेष महत्व है। आचार्य दण्ड, आनन्द, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि भारतीय काव्य शास्त्रियों ने काव्य में अलंकारों का प्रयोग अनिवार्य बताया है जिसका अर्थ शोभा को बढ़ाने वाले कारक तत्वों से किया जाता है।

‘अलंकरोति इति अलंकाराः’ इस उक्ति के अनुसार जिससे सुन्दरता अथवा शोभा की जाए, वही अलंकार है। काव्य में अलंकार कामिनी के शरीर पर स्थित आभूषणों द्वारा बढ़ाए जाने वाले सौन्दर्य के भांति कहा गया है अर्थात् जिससे काव्य की सुन्दरता या शोभा की वृद्धि हो वही अलंकार है। शब्द और अर्थ दोनों की वृद्धि होने से अलंकारों के शब्दालंकार व अर्थालंकार दो भेद किए जाते हैं।

‘विवेकमंजरी’ प्रकरण काव्य में रचनाकार ने अनायास अलंकारों का प्रयोग किया है। सहज रूप में प्रयुक्त इन अलंकारों से यह लगता है कि कवि ने जानबूझ कर अलंकारों का प्रयोग नहीं किया होगा बल्कि काव्य शैली में ग्रन्थ लिखे जाने से वे सहज ही प्रयुक्त किये गये होंगे। ग्रन्थ का प्रतिपाद्य आचारपरक एवं दार्शनिक होने से भी अलंकारों के सहज प्रयोग की बात सिद्ध हो जाती है। कवि आसड ने इस वृत्ति में उपमा, रूपक, अनुप्रास, परिकर, पर्याय, विभावना, दीपक आदि अलंकारों का प्रयोग किया है। काव्य में प्रयुक्त इन अलंकारों में से कुछ अलंकारों के उदाहरण यहां दृष्टव्य हैं :-

उपमा

उपमा का अर्थ है – निकट रखकर तौलना। जब एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ के समान किसी प्रकार की समानता के कारण कहा जाए, वहां उपमा अलंकार होता है। उपमेय और उपमान इन दोनों में समानता दिखाई जाए, वही उपमा अलंकार है। संसार सागर को नाश करने वाले मुनि गणों की तुलना आकाश के भूषण चन्द्रमा से करते हुए कवि ने कहा है—

विसमभवभमण, जिणसासय गयण मंडण मयंका ।

इसी प्रकार विवेकमंजरी को श्रवण करने के लिए अमृत रस रूप सरिता की उपमा दी गई है। कवि कहता है कि सवणसुहारससरिअं वुच्चामि विवेकमंजरी अं ।

रूपक— रूपक का अर्थ है—रूप का आरोप। जब एक वस्तु पर अन्य वस्तु का आरोप कर दोनों में अभेद स्थापित किया जाए वह रूपक अलंकार होता है। उपमेय पर उपमान के निषेध रहित आरोप को रूपक कहते हैं।

कवि आसड ने विवेकमंजरी में सर्वाधिक प्रयोग रूपक अलंकार का किया है। उन्होंने जगह-जगह उपमेय में उपमान का आरोपण किया है उदाहरण के लिए —

विवेकपईवा (गाथा-2)

एअं मणसुद्धी मंजरी वरुक्खस्स (गाथा-4)

मयण भडवाय भंजण (गाथा-34)

जाउतेलुक्क सिरित्तिलियं (गाथा-55)

गुणरयणमहोअहीसुहावासो (गाथा - 64)

घणकम्मपासबद्धो (गाथा - 101)

विसयरसासवमत्तो (गाथा 105)

विभावना

विभावना का अर्थ है— विशेष प्रकार की कल्पना या भावना। कारण के अभाव में कार्य के होने के चमत्कारपूर्ण वर्णन को विभावना अलंकार कहते हैं। अभयारानी के प्रसंग में शील से गिराए जाने पर भी सुदर्शन का दृढ़ स्थिर रहना चमत्कारपूर्ण वर्णन है। इससे सुदर्शन की कीर्ति और भी वृद्धि को प्राप्त हुई। इसमें विभावना अलंकार समाविष्ट है। ग्रंथ में कहा गया है कि

भवभमणनिभयाए, अभयाए पाडिऊण तह विसमो।

निव्वढोसि सुदंसण, तुह कित्ती तेण महमहइ ॥44 ॥

परिकर

परिकर अलंकार में साभिप्राय अथवा व्यंजक विशेषण शोभाकारक बनकर विशेष्य का परिपोषक होता है। परिकर का अर्थ उपकरण या शोभाकारक पदार्थ है जब साभिप्राय विशेषणों के प्रयोग से वर्णनीय पदार्थ का पोषण किया जाए तब परिकर अलंकार होता है। कवि आसड ने विवेकमंजरी में एक नहीं, कई स्थलों का साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग किया है जिससे वर्णन और भी उत्कृष्ट बन पड़ा है। उदाहरण के लिए प्रथम मंगलाचरण की गाथा दृष्टव्य है जहां पर भगवान महावीर को वर जिणनाह विशेषण के साथ-साथ सिद्धपुरसत्थवाहं विशेषण से भी अलंकृत किया गया है। सिद्धपुरसत्थवाहं वीरं नमिऊण वरं जिणनाहं। (गाथा 1)

अन्यत्र कहा गया है तस्स विभूसणमेअं, मणसुद्धी मंजरी वररुक्खस्स। इस गाथा में विवेकमंजरी को श्रेष्ठ वृक्ष का आरोपण कर मन को उसका विभूषण बताया गया है जो शुभ फल को प्राप्त कराता है। यहां पर भी परिकर अलंकार का प्रयोग रचनाकार ने किया है। पंचपरमेष्ठी अपने आप में पूज्य हैं, शरणभूत हैं फिर भी उन्हें करुणा पूर्ण बताकर निर्दिष्ट किया है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि रचनाकार अलंकारों के प्रयोग में सिद्धहस्त हैं, इसीलिए इन अलंकारों के अतिरिक्त भी अनेक अलंकारों का प्रयोग ग्रंथ में किया है। अर्थापत्ति, काव्यलिंग, समाधि, पर्याय, विशेषोक्ति आदि अलंकारों का प्रयोग इस कृति में देखा जा सकता है।

छन्द

काव्य में अलंकार, रस और छन्द इन तीनों की त्रिवेणी हमेशा प्रवाहित होती रहती है। कुछ विद्वानों ने छन्द को अलंकार मात्र माना है, मूल तत्त्व नहीं। लेकिन काव्यकार राजशेखर ने काव्य मीमांसा में (रोमाणिछन्दान्ति) कह कर सर्वत्र छन्द को स्थान दिया है। आचार्य भरत मुनि ने छन्द विहीन शब्द को सार्थक नहीं कहा। (नाट्यशास्त्र 15/14)

लय छन्द का प्राण है। छन्द से सूक्तियों में सजीवता आती है। वर्ण तथा मात्रा संबंधी विशेष नियमों का अनुसरण होता है। आसड कवि ने विवेक मंजरी प्रकरण में मूल रूप से गाथा छन्द का प्रयोग किया है। उनके छन्द प्रयोग में यद्यपि कहीं पद (चरण) स्वल्पन दिखाई देता है तो कहीं मात्राओं की त्रुटि देखी जा सकती है। रचनाकार ने स्वयं ग्रंथ में इस बात को स्वीकार किया है कि उनके द्वारा पद, अक्षर और मात्राओं के प्रयोग में छन्द का ध्यान नहीं रखा गया। उसमें कहीं अधिकता तो कहीं हीनता का प्रयोग हुआ है। इससे यह स्पष्ट होता है कि शब्दों एवं मात्राओं के लिए रचनाकार ने पहले ही सचेत कर दिया। उन्होंने लिखा है—

पय अक्खर मत्ताए अहिअं हीणं च जं मए भणिअं।

तं तित्थयर पायासिअ वाणीएमज्झ खमिअव्वं ॥63॥

मात्रिक छन्दों में गाथा, दोहा, विग्गाहा और उग्गाहा छन्दों का प्रयोग रचनाकार ने किया है। इसका उदाहरण इस प्रकार है—

गाथा 6,7,10,11,12,14...

विग्गाहा 30...

उग्गाहा 88...

(4) ग्रन्थ की भाषा

प्राकृत भाषा के सन्दर्भ में अनेक वैयाकरणों ने शब्दानुशासन लिखे हैं। मध्ययुग को प्राकृत साहित्य का स्वर्ण-युग कहा जा सकता है। मध्ययुग से ही इस साहित्य का अनुशासन रचे जाने की आवश्यकता को ध्यान रखते हुए, जहां कई आचार्यों ने संक्षेप में व्याकरण सूत्र लिखे वहीं आचार्य हेमचन्द्र ने संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत का भी शब्दानुशासन रचा, जो आज प्राकृत भाषा के नियमों की व्याख्या के लिए पूर्ण माना जाता है। हेमचन्द्र ने सामान्य प्राकृत, जिसे महाराष्ट्री के नाम से जाना जाता है, के साथ-साथ मागधी, शौरसेनी, पैशाची, अपभ्रंश आदि भाषाओं का भी शब्दानुशासन लिखा। विवेकमंजरी प्रकरण में रचनाकार ने सामान्य प्राकृत का प्रयोग किया है। यद्यपि रचनाकार भाषा प्रयोग में स्वतंत्र रहता है, किन्तु किसी एक भाषा को मुख्य रूप से स्थान भी देता है।

समकालीन भाषाओं का प्रभाव रचनाकार पर अवश्य ही पड़ता है। विवेकमंजरी प्रकरण में सामान्य प्राकृत के अतिरिक्त मागधी और अपभ्रंश भाषा प्रयोग देखने को मिलता है। भाषागत वैशिष्ट्य के अन्तर्गत कारक-क्रिया रूप, स्वर-व्यंजन परिवर्तन, आगम, लोप, व्यत्यय आदि बिन्दुओं के आधार पर कृति का मूल्यांकन किया जाना अपेक्षित है। यहां पर कुछ लक्षणों का प्रतिपादन किया गया है—

1. विवेकमंजरी प्रकरण में उकार बहुला अपभ्रंश का प्रयोग देखने को मिलता है। अपभ्रंश में प्रथमा एकवचन में उ विकल्प से लगता है। क्रिया रूप में अन्यपुरुष एकवचन में भी उ का प्रयोग होता है। प्रस्तुत कृति में प्रथमा एकवचन में ओ के स्थान पर उ देखा जा सकता है जैसे—

संवरउ	(गाथा 28)
दुक्खिउ	(गाथा 97)
अदूसिउ	(गाथा 97)
भणिउ	(गाथा 68)
भासिउ	(गाथा 67)

2. मागधी भाषा में प्रथमा एकवचन में ओ के स्थान पर 'ए' का प्रयोग किया जाता है। विवेकमंजरी प्रकरण में कवि आसड ने इसका प्रयोग किया है जैसे—

जिणिंदे	(गाथा 15)
जीवे	(गाथा 80)
सव्वे	(गाथा 80)

3. मागधी में तालव्य श का प्रयोग किया जाता है जबकि अन्य प्राकृतों में केवल दन्त्य सकार का प्रयोग किया जाता है। विवेकमंजरी प्रकरण में 'एक' स्थल पर तालव्य शकार का प्रयोग देखने को मिला है। जैसे—

विशुद्धं	(गाथा 134)
----------	------------

4. छ, र्य, र्ज का मागधी में 'य्य' में परिवर्तन होता है जबकि सामान्य प्राकृत में इनका 'ज्ज' में परिवर्तन देखा जाता है। मागधी का प्रभाव इस रूप में भी देखा जा सकता है। जहां र्य का य्य में परिवर्तन हुआ है जैसे—

कार्य > कय्य	(गाथा 49) मागधी
कार्य > कज्ज	(गाथा 141) महाराष्ट्री

5. सामान्य प्राकृत में ऋ का परिवर्तन अ, इ, उ, और रि में किया जाता है। विवेकमंजरी प्रकरण में भी ये चारों परिवर्तन देखने को मिलते हैं। जैसे—

ऋ > अ	=	दृढश्री > दढसिरि (गाथा 43)
ऋ > इ	=	हृदय > हिअए (गाथा 132)
ऋ > उ	=	ऋषभ > उसह (गाथा 15)
ऋ > रि	=	ऋषभ रिसह (गाथा 4)
		ऋद्धि रिद्धि (गाथा 4)

6. प्राकृत में असंयुक्त व्यंजन किसी समास के दूसरे या तीसरे शब्द के आदि में हो तो प्रायः उसमें वही विकार आता है जो स्वर मध्यवर्ती असंयुक्त व्यंजन में आता है। विवेकमंजरी का उदाहरण है –

नि + पुणं = निउणं (गाथा 103)

7. आदि में न, य, श, ष को छोड़कर शब्द के आदि में असंयुक्त व्यंजन में कोई परिवर्तन नहीं होता। विवेकमंजरी का उदाहरण द्रष्टव्य है –

य का परिवर्तन :-

यदि > जइ (गाथा 3,68)

यथा > जह (गाथा 5)

श का परिवर्तन :-

शरीरं > सरीरं (गाथा 114)

शरणं > सरणं (गाथा 10)

8. प्राकृत में भू धातु के लिए भव आदेश किया गया है। जिसके रूप विकल्प से हव धातु से भी चलते हैं।

जैसे - भवन्तु > हवंतु (गाथा 81)

भवति > होइ (गाथा 5,96,97)

9. कगचजतदपयवां प्रायो लुक् (8/1/177) नामक सूत्र के आधार पर प्राकृत में मध्यवर्ती क-ग-च-ज-त-द-प-य-व का लोप हो जाता है। यह प्रवृत्ति विवेक मंजरी प्रकरण में सर्वत्र दिखाई नहीं देती, एक ही स्थल पर इस सूत्र की अनुपालना की गई है, जैसे—

आत्महितम् > आयहियं (गाथा 5)

अतीत > अईअ (गाथा 14)

अनुमोदना > अणुमोअणा (गाथा 6)

10. प्राकृत भाषा में खघथधभाम (8/1/187) के अनुसार ख घ थ ध भ का ह हो जाता है। यह प्रवृत्ति विवेकमंजरी प्रकरण में भी दिखाई देती है।

(ख) ज्ञानप्रमुख > नाणप्पमुहा (गाथा 14)

(घ) श्लाघ्य > सलहिज्जइ (गाथा 30)

(थ) पद्मनाथ > एउमनाह (गाथा 14)

(ध) सुविधि > सुविहि (गाथा 11)

(भ) दुर्लभ > दुलह (गाथा 123)

प्रभु > पहु (गाथा 12)

त्रिभुवन > तिहुअण् (गाथा 13)

11. प्राकृत में ट, ठ का परिवर्तन क्रमशः ड, ढ में होता है। विवेकमंजरी प्रकरण में इसके उदाहरण हैं—

कुटुम्बं

कुडुंबं (गाथा 106)

विकट

वियड (गाथा 125)

इस प्रकार विवेकमंजरी प्रकरण में उक्त विशेषताएं उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त भी प्राकृत के सामान्य लक्षण इसमें घटित होते हैं। चूंकि महाराष्ट्री प्राकृत में यह कृति लिखी गई है, इसलिए सामान्य प्राकृत के सभी नियमों को विवेचित करना समीचीन नहीं है। अतिरिक्त जिन विशेषताओं का प्रयोग रचनाकार ने किया है उनका सोदाहरण निर्देश यहां किया गया है।

विवेकमंजरी प्रकरण की शैली सरल, सहज है। कुछ पद्यों में समासान्त पदावली का प्रयोग कवि की प्रतिभा को उजागर करता है। कवि ने कुछ पदों में समास प्रयोग किया है। जैसे तेलुक्क, त्रिभुवन, चउसरणे, चक्कवट्टी, चउविसं, पनरस आदि। इस प्रकार यह कृति छन्द, अलंकार, सूक्ति आदि के प्रयोग से उत्कृष्ट बन पड़ी है।

1. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग 4 पृष्ठ 197
2. जैन साहित्यनों संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ 338-339
3. विवेकमंजरी वृत्ति प्रशास्ति-पीटर्सन का हस्तप्रतिविषयक रिपोर्ट - 3, पृष्ठ 100 सन् 1884-86
4. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग 4 पृष्ठ 216

जैन विश्वभारती संस्थान
मान्य विश्वविद्यालय
लाडनू (राज.)

पंचाणुव्रतों में शिक्षा-मूल्य और सामयिक सन्दर्भ

— प्राचार्य बिहालचन्द्र जैन, श्रीवा

यह सुनिश्चित है कि शिक्षा ज्ञान - नेत्र होते हैं। शिक्षा से मनुष्य पशुता से प्रभुता की ओर बढ़ता है। लेकिन यह शिक्षा केवल बौद्धिक कसरत नहीं होनी चाहिए। जीवन के शाश्वत नैतिक मूल्यों की धरती से उसका अंकुरण फूटना चाहिये। आज की शिक्षा मस्तिष्क को स्वस्थ और सतर्क रहने की बात करती है। उसमें हृदय की भाषा पढ़ने की सम्भावना प्रायः लुप्त होती जा रही है। आज की शिक्षा हृदय/भावना/और आत्मा की इबारत से शून्य होती जा रही है। आज की शिक्षा जीवन-मूल्यों के संरक्षण और विकास में कितनी सहयोगी है? इस ज्वलंत प्रश्न पर विचार किया जाना आवश्यक है।

विगत बीसवीं सदी में ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में जितनी खोजें हुई हैं विगत एक वर्ष में इतनी नहीं हुई। “सुपर कम्प्युटर” मानव मस्तिष्क की चुनौती बनकर उद्योग-जगत में क्रान्ति कर रहा है। फिर भी मस्तिष्क की अपरिमित शक्ति की थाह नहीं है। Telepathy, Pronic Healing and Collective Conciousness हमारी आध्यात्मिक क्षमता के प्रमाण हैं। आज परमाणु अस्त्रों की होड़ ने शिक्षा के बदलते स्वरूप पर विचार करने के लिये राजनीति का दरवाजा खटखटाया है। फिर भी यह सुनिश्चित है कि आज की यह शिक्षा, शान्तिप्रिय मानव की समाज संरचना करने में अपने को असहाय पा रही है।

मैकाले द्वारा गढ़ी गई शिक्षा ने विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों की एक अच्छी भीड़ बढ़ा ली है, परन्तु डिग्री देने वाली इस शिक्षा का जीवन और जीवन-मूल्यों से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है।

एक बहुत बड़े वैज्ञानिक हो गए हैं—आइन्स्टीन। जब वे मृत्यु-शैया पर थे तब एक पत्रकार उनका साक्षात्कार लेने किसी तरह पहुंचा और उसने केवल एक ही प्रश्न किया। उसने पूछा—आप मरने के बाद दूसरे जन्म में क्या होना पसन्द करेंगे? आइन्स्टीन का संक्षिप्त सा जवाब था—“कुछ भी, एक पर वैज्ञानिक नहीं”। भला जिसने अपनी सारी जिन्दगी विज्ञान के लिये समर्पित कर दी हो, उसके मन में विज्ञान के लिये इतनी वितृष्णा एवं अफसोस क्यों हुआ?

आइन्स्टीन ने खुलासा किया—“आज सुबह 10 बजे डॉ. ने जवाब दे दिया कि 24 घण्टे से ज्यादा आप नहीं जी सकेंगे। मुझे अफसोस है कि मैंने सैकड़ों आविष्कार किये मगर उस तत्व की खोज करने का कभी प्रयास नहीं किया जिसके कारण मैं अब तक जीवित रहा। जिसके निकल जाने के बाद आइन्स्टीन, आइन्स्टीन नहीं रह जायेगा, मात्र माटी का पुतला कहलाने लगेगा। सबको जाना, परन्तु उस एक तत्व से अनजान बना रहा।”

आइन्स्टीन का संकेत था कि विज्ञान का आध्यात्मीकरण हो। जबकि अध्यात्म का वैज्ञानिकीकरण करने पर जोर दिया जा रहा है, परन्तु विज्ञान के पंख आध्यात्मिकता की ओर बढ़ने के लिये भी प्रयत्नशील होने चाहिये।

शिक्षा में उस ज्ञान तत्व को समाहित किया जाना चाहिये जिसके अभाव में हमारी यह आधुनिक शिक्षा दिशाहीन होकर भटक गई है। जिसके कारण शिक्षित युवा, आक्रोश और हिंसा से भरा हुआ है और उसकी ऊर्जा विनाश की ओर बह रही है।

शिक्षा में इस मौलिक अवधारणा का समावेश किया जाना अति आवश्यक है कि मनुष्य का दुःख केवल शारीरिक नहीं है बल्कि वह अपने विचारों से दुःखी है। अपनी इच्छाओं एवं अपने स्वार्थ की पूर्ति न हो पाने के कारण से दुःखी है। उसके दुःख का मूल उसके अन्दर पल रहे कुत्सित विचार हैं।

वह दो बातों के कारण दुःखी है :-

1. परिग्रह की अतिलालसा के कारण :- जिसके लिये वह हिंसा, झूठ, चोरी व पाप के लिये प्रेरित होता है।

2. काम भावना से यौनाभिमुख होने के कारण।

जैन दर्शन के पंच अणुव्रत उक्त बातों से उपजे दुःख का सही समाधान है। पंच अणुव्रतों के अनुशीलन से एक ऐसे अहिंसक-समाज का निर्माण संभव है जो निश्शस्त्रीकरण और शान्ति की दिशा में एक अचूक पहल है। जिसमें शोषण नहीं, समानता होगी। जिसमें झूठ को स्थान नहीं, चौर्य कर्म को कतई बढ़ावा नहीं बल्कि निष्ठा और ईमानदारी होगी। अणुव्रत बढ़ती हुई कामुकता और यौन प्रवृत्ति पर अंकुश लगा सकता है।

हमारी शिक्षा में ऐसी अवधारणा विकसित की जाना चाहिये, जो रोटी और भोग से नहीं, बल्कि संस्कृति और योग से जुड़ी हो।

प्रत्येक विश्वविद्यालय स्तर पर “आध्यात्मिक-प्रयोगशाला” स्थापित की जाये

जहाँ योग/प्राणायाम/ध्यान/और इन्द्रिय-वासनाओं के नियंत्रण पर प्रयोग किये जायें। युवा मस्तिष्क में इन प्रयासों से एक सृजनात्मक सोच पैदा की जा सकती है।

हमारी शिक्षा में संस्कार देने वाली “नैतिक-शिक्षा” अनिवार्य की जाये जिसमें सम्प्रदाय या धर्म को नहीं बल्कि सम्प्रदायवाद एवं धर्मान्धता को गलत माने। क्योंकि सम्प्रदाय और सम्प्रदायवाद दो अलग-अलग बातें हैं। एक व्यक्ति धर्म और सम्प्रदाय को छोड़कर सम्प्रदाय के नाम पर रक्तंरंजित युद्ध कर सकता है परन्तु दूसरा व्यक्ति सम्प्रदाय को नकार कर धर्म नहीं छोड़ता और वह क्षमा, मैत्री और सह-अस्तित्व के साम्राज्य का अधिकारी होता है।

शिक्षा का उद्देश्य-“सा विद्या या विमुक्तये” होना चाहिये।

मैंने सन् 2000 के पर्युषण पर्व में गुजरात की राजधानी गांधीनगर का एक विशाल दर्शनीय मन्दिर देखा जो “अक्षर-धाम” के नाम से प्रसिद्ध है। उसकी प्रदर्शनी के प्रथम कक्ष में जीवन-शिक्षा का उद्देश्य एक मूर्ति के द्वारा उद्घाटित किया गया/खुलासा किया गया है।

एक अनपढ़ पाषाण शिला में एक शिल्पकार रूपाकार हो रहा है। उसके एक हाथ में हथौड़ा है और दूसरे हाथ में छैनी, जिसके द्वारा वह स्वयं का रूप गढ़ रहा है। अपने हाथों से ही स्वयं को रूपाकार बना रहा है। कितनी अद्भुत बात है। वह मूर्ति एक प्रतीक है जो कह रही है कि संस्कारों की छैनी और शिक्षा की हथौड़ी से ही जीवन की अनगढ़ शिला को चिन्मय जीवन का रूप दिया जा सकता है।

पंच-अणुव्रतों के परिप्रेक्ष्य में शिक्षा के नये स्वरूप को व्याख्यायित किया जाना चाहिये। ये पंच-अणुव्रत हमारे गृहस्थिक जीवन के संविधान हैं। अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, और परिग्रहपरिमाणुव्रत। जैन धर्म में इन्हें श्रावकों को पालन करने के लिये कहा गया है। बौद्ध धर्म में भी ये पंचशील के नाम से जाने जाते हैं।
1. पाणातिपाता वेरमणी 2. अदिन्नादाना वेरमणी 3. कामेसुविच्छाचारा वेरमणी 4. मुसावादा वेरमणी और 5. सुरामेरेय्यमज्जप्पमादद्वाना वेरमणी।

अहिंसा जीवन का लोकोत्तर दर्शन है। हर प्राणी जीना चाहता है और सुख से जीना चाहता है। उसके जीने के मौलिक अधिकार को छीनना हिंसा है। हिंसा पाप भाव भी है और पाप कृत्य भी है। हर प्राणी इन्द्रियों सहित जी रहा है। उसकी इन्द्रियों का घात करना जहाँ द्रव्य-हिंसा है, वहीं जिस राग-द्वेष से प्रेरित होकर वह ऐसा करने के लिये उद्धत होता है वह भी भाव हिंसा है।

पाप भाव-असातोवेदनीय कर्मों को बांधता है जो आध्यात्मिक अपराध है जिसका दण्ड हमारे कर्म हमें देंगे। उससे छुटकारा नहीं मिल सकता है। पाप हिंसा के कृत्य सामाजिक और वैधानिक दण्डनीय अपराध हैं। अतः सृष्टि में सुख-शान्ति कायम करने के लिये अहिंसा की ममतामयी माँ की गोद आवश्यक है। अहिंसा से ही करुणा और दया आती है।

हमारी शिक्षा में अहिंसा की इस सार्वभौमिक भावना/तत्त्व का समावेश किया जाना आवश्यक है जो असमानता और शोषण की खाई को पाट सकती है। इसमें “सत्त्वेषु मैत्री” की भावना रूपाकार होती है और हम मानवता के गुण से जुड़ते हैं।

हिंसा का मूल कारण-इच्छाओं की बढ़ती लिप्सा है। इच्छाओं की तृप्ति या परिशमन के लिये यह भोग उपभोग की सामग्री जुटाता है। सामग्री जुटाने में स्वार्थ, चोरी या झूठ का आश्रय लेकर बेतहाशा दौड़ में लगा है परन्तु इच्छायें पिशाच हैं जो कभी तृप्त या शान्त नहीं होती।

छहों महाद्वीप-आणविक अस्त्रों के ढेर पर बैठा-शक्ति का मुखौटा धारण किये है परन्तु भीतर ही भीतर भय से कांप रहा है। अहिंसा ही केवल अभय और सुख-शान्ति का मार्ग प्रशस्त कर सकती है।

(2) शिक्षा में सत्य, अचौर्य जैसे तत्त्वों का समावेश सामाजिक-समानता और अपरिग्रहवाद के लिये अत्यन्त आवश्यक है। नैतिक शिक्षा के बारे में भगवान महावीर की वाणी को शिक्षा का अभिन्न अंग बनाया जाना सामयिक बन गया है।

“सत्य”—प्रकृति/प्रभु की प्रतिकृति है। आत्म-सिद्धि और आत्म-शुद्धि सत्यान्वेषी को प्राप्त हो सकती है। शिक्षा उस दिन ज्ञान और विद्या की संज्ञा प्राप्त कर सकेगी जब उसमें ऐसे आचरण तत्त्व रखे जायें जो विश्वासघात और धोखाधड़ी में आस्था नहीं रखते हों।

सत्याणुव्रती श्रावक—एक प्रामाणिक व्यक्ति होता है।

(3) जो वस्तु दी नहीं गई हो, उसे ग्रहण करने से विरत रहना अचौर्याणुव्रत है। सद्गृहस्थ-अपने व्यवसाय में झूठ और चौर्यकर्म का आश्रय नहीं लेता। वह व्यापार में अपमिश्रण, टैक्स-चोरी आदि नहीं करता। नाप-तौल के मापक सही रखता है। अनधिकृत स्वाभित्त्व की भावना चौर्यकर्म है। वह सत्यघोष की भांति बनकर ईमानदारी का मुखौटा लगाकर किसी की रखी विरासत का अपहरण नहीं करता। वह अपने नौकर का भी शोषण नहीं करता है। न्याय उसकी पूंजी होती है। इन दोनों व्रतों का धारी-सामाजिक प्रतिष्ठा के साथ जीवन में यश की पूंजी को भी प्राप्त करता है।

(4) आर्थिक असमानता और सामाजिक वैषम्य का मुख्य कारण हमारे अन्दर की लालसा/लोभ/इच्छा और स्वार्थ है। इच्छाओं के कारण परिग्रह और संग्रह सामाजिक प्रदूषण है। परिग्रहपरिमाण रूप अणुव्रत इसके नियंत्रण का एक प्रशस्त मार्ग है।

अनावश्यक अति संग्रह-एक प्रकार की विक्षिप्तता ही है। तृष्णा की कोख से इसका जन्म होता है। आचार्य श्री महाप्रज्ञ के शब्दों में—“आदमी हिंसा-शरीर, परिवार, भूमि, धन और सत्ता के लिये करता है। ये सब परिग्रह हैं अर्थात् हिंसा का मुख्य कारण-परिग्रह है। इच्छा, हिंसा और परिग्रह तीनों साथ-साथ चलते हैं।” अतः आर्थिक समानता में ही अहिंसा का विश्वास संभव है।

हमारी शिक्षा का मूल आधार—समता, सहिष्णुता और समानता होना चाहिये।

परिग्रह परिमाणानुव्रती के उक्त तीनों गुण अनुवर्ती बन जाते हैं। परिग्रह परिमाणव्रत-हमारी इच्छाओं पर नियंत्रण/नियमन कर सकता है। हमारी तृष्णा को निर्जीव बना सकता है। निर्धन व्यक्ति धनाभाव के कारण दुःखी है परन्तु अमीर व्यक्ति अपनी तृष्णा/लालसा के विस्तार के कारण दुःखी है। दोनों दुःखी हैं, उनके सिर्फ कारण या आधार बदले हैं।

(5) कामुकता अथवा यौन प्रवृत्ति की खुली अभिव्यक्ति आज एक बड़ा उद्योग बन चुकी है। प्रतिष्ठित लेखकों का एक बड़ा वर्ग अश्लील साहित्य और अश्लील पत्रिकाओं के माध्यम से पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव अवयस्क किशोरों पर डाल रहा है। फोन-सेक्स, व्यभिचार, नेट-एडल्टरी और इन्टरनेट के सहयोग से यह जार-कर्म परवान चढ़ रहा है। आधुनिकता के सम्मोहन में आयातित अप-संस्कृति ने नारी को विज्ञापन का माध्यम बनाकर काम को कला और व्यापार के साथ जोड़कर एक धिनौना षड्यंत्र शुरू कर दिया है। ऐसे मोड़ पर ब्रह्मचर्य को शिक्षा का एक अभिन्न अंग स्वीकार किया जाना आवश्यक है।

शिक्षा में ब्रह्मचर्य की पवित्र भावना मूलक संदेश और कथानकों का समावेश करते हुए उसकी तेजस्विता का महिमा-गान युग की आवश्यकता है। क्योंकि ब्रह्मचर्य से ही देह-कांति और आत्मा की आभा प्रखर बनी रह सकती है। ब्रह्मचर्य सभी साधनाओं की आधार भूमि है।

काम व्यक्ति की सबसे बड़ी कमजोरी है। हजार योद्धाओं को पराजित करने वाला भी काम-सुभट से पराजित हो जाता है। अतः एक स्वस्थ नैतिक और सुसंस्कृत समाज की स्थापना के लिये ब्रह्मचर्य का नैतिक मापदण्ड अत्यन्त आवश्यक है। हमारे महाविद्यालयों में शिक्षा का नवीन ढांचा इस प्रकार निर्मित किया जाये जिसमें “काम-शिक्षा” विषय की स्वीकृत नीति के स्थान पर ब्रह्मचर्य की महनीय शिक्षा को पाठ्यक्रम में स्थान दिया जाये।

उक्त पांचों अणुव्रतों को जीवन परिष्कार के संदर्भ में शिक्षा में सर्वोपरि स्थान दिया जाना मानवता के लोकोत्तर विकास और संरक्षण के लिये अपरिहार्य बन गया है।

राष्ट्रीय स्तर पर “अणुव्रत-अनुशीलन” को एक आंदोलन का रूप दिया जाना चाहिये।

जीवन के सरोवर में-“अणुव्रत का सरोज” सत्य के आलोक को पाकर खिलता है। जिसका पराग है अहिंसा, अभिराम-पांखुड़ी है अचौर्य और अपरिग्रह, उस सुवासित का इष्ट फल है-ब्रह्मचर्य।

आइए, इस “अणुव्रत-के सरोज” से अपने घर आंगन को एवं सामाजिक/राष्ट्रीय चरित्र को समुज्ज्वल बनाएं।

राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय- 3 के सामने
बीना (मध्यप्रदेश) 470 113

Protection of the Environment :

A Jain Perspective

Prof. B. C. Lodha

A student of science knows that all the different kinds of living beings on this earth are made up of 13 elements which are an integral part of the earth and its atmosphere. Thus, all living beings are related at the very element level with each other and also with the earth. Biologically the living beings are divided into autotrophs and heterotrophs. Autotrophs - predominantly plants are important as by a process of photosynthesis they manufacture all the food on this earth with the help of sunlight using carbon di-oxide and water and some other elements. The food so obtained is used by all the living beings for their energy and growth and in that process carbon di-oxide is released back into the atmosphere, and used again by the plants. In this process of photosynthesis, oxygen, is liberated by the plants by the breakdown of water and is consumed by the heterotrophs (animals and other non-green organisms) for their respiration.

Many such inevitable interactions between organism to organism, mineral to mineral and more particularly mineral to organism and vice-versa have been going on since time immemorial on this earth and have resulted into the present day scenario. The forests, those which have still remained without any major interference by man, have taken millions of years to reach their present status by natural interactions and selections. But these are now been vastly interfered with by just one

species, viz; man, and is to the extent that it is in fact threatening the very existence of both earth and the organisms living on and in it. Why is this happening? This is primarily due to materialistic and possessive outlook in man. Man has interfered directly or indirectly with almost all living organisms and minerals (animates and inanimates), and has attempted to destroy the nature and pollute the environment by his own doings. Today everything is polluted - **water** (by industrial and domestic waste), **soil** (by harvesting minerals and natural resources, artificial fertilizers, pesticides, and erosion caused by deforestation), and **air** (by poisonous industrial and automobile gases). The situation has gone that bad that there is a rupture in the Ozone layer due to Chlorofluro Carban, a problem created by refrigeration and air-conditioning industry but inspite of the full knowledge problem is still continuing and worsening due to our weakness for comforts. Besides various kinds of war weapons, radioactive wastes, and like are destroying everything. Man's own action has become man's greatest concern.

Ruthless deforestation has been going on since long not only for the need, but also for the greed of the men. However, under the pressure of environmentalists a layman or a businessman may think why maintain so many species, why not maintain and develop only those few which are useful to him, and so he tries to find excuse for destroying what he thinks is not useful to him. He does so, for mainly selfish purposes. What he thinks to be not useful to him may in fact be very useful to him indirectly, perhaps he does not know its use so far (e.g. **Penicillium**, **Texus**, etc). While "good guys" and "bad guys" may be clearly distinguishable at a dramatic stage, it is not the case in real life. Man needs to think more in terms of cautious utilization of nature rather than its indiscriminate exploitation. His concern should be conservation of the eco-system rather than conservation of this or that species. Years ago, I read a beautiful expression on this aspect by Simpson and Beck. I quote "you are alive and all around you are other living beings. You would not yourself be alive if you were not part of the whole complex world of life. This is true not only in the sense that you depend on other forms of life for food or oxygen, but also in other larger senses. You live in a community, a community of human and also many other things in greater diversity and of greater impact on your own life than you may have realised as yet. You share with them many processes of

Some Ācāryas listed 9 objects of possessiveness and the laymen were advised to get themselves detached from these and take vows for that purpose. These are; (1) land (2) houses (3) silver (4) gold (5) diverse commodities (6) grain (7) servants (8) livestock (9) furniture. Details of each were also provided in the canonical literature so that nothing of the movable or immovable property which man may try to possess is left out directly or indirectly from the knowledge of a layman while taking the vows. Thus there are comprehensive instructions for self-imposed restrictions. Similarly, hoarding, profit making, exploitation of domestic servants and animals were also strictly not advised. It is explained that indulging in acquisition of wealth can never result in happiness as it results in poverty to others and mental tension, fear and terror to the self.

Many Ācāryas have given explanation of the instincts and causes of accumulation of possession. Some important ones are hallucination of material possession, development of acquisitive egotism, delusion and finally tying up with the sense of I and mineness. The deeper the sense of mineness, the intenser the outburst of violence. It has been explained that in all forms of possessiveness internal or external violence is implicit. The vow is for man's self-imposed willing restriction to the extent one is able to observe it immediately or in gradual progression. Therefore, he must fight against his instincts of consumerism and decide what minimum property he should retain for his survival.

Ahimsā Vrata (vow of non-violence)

While possessiveness breeds violence, violence plagues mankind and its environment. And if there is any society, culture or religion, that has deeply considered all forms of violence and played an effective role in inculcating non-violence in its followers, it is Jainism. Non-violence or non-injury to all the living beings is the foundation of Jainism. A strict guideline was suggested of what a layman should refuse to do for saving himself from violence to others. The least that is expected of a true follower of Jainism is that he should never be aggressive and do things which hurt or injure any innocent living being. Slaughter of others for the purpose of extirpating evil has been considered as senseless as cutting down a tree with an axe in order to make it grow. The contention that it is better to kill one higher

life (say an animal) than to destroy a very large number of lower lives is refuted by the explanation that the carcass will inevitably be full of minute organism called 'nigoda' (micro-organisms like bacteria). Killing for any reason has been considered bad.

Jains believe in the existence of the soul not only in insects, animals and men (who have two, three, four and five sense organs, as the case may be) but also in **earth** (earth body), **water** (water body), **fire** (fire body) and **wind** (wind body) and **plants** (vegetable body) which have only one sense organ of touch. All the five have been regarded as abode of the lives. All these bodies are well connected and any disturbance to one affects others. We are all dependent on both living and non-living for the survival of life, and use of plants and other one sensed beings is inevitable for the layman but it is suggested to him that he should with his own will-power keep on restraining the use, say restricting the consumption of number of the plant species and parts thereof which are used. Similarly restraining the use of water, earth, fire and other articles has been suggested. And this spirit has to be maintained throughout life. It is suggested that even an act of touching these bodies causes pain to them hence has to be avoided. In addition, Jain Ācāryas mentioned that different kinds of other living beings also live in these bodies (water, earth and wind) and any interference with the host body also causes hurt to the organisms which live in it.

Thus, the Jains have equal respect for the lives of all beings irrespective of their sizes and categories.

In depth thought was given to every walk of life where violence to the living being may be caused. For instance, they said that in the process of building a house one destroys earth-bodies and many other living beings.

It was also explained that one should not kindle fire, as it may destroy earth-beings, water-beings and wind-beings besides grass, leaves, wood, forests and insects. It will not be out of place to mention that ecologically fire in nature is not a completely artificial factor created by man, nor is it always detrimental to man's interests. There are many natural communities which are classified as "fire types" in that their prosperity or very survival depends on fire. Plants weak in competition are able to come out only when others dominating an area

are destroyed by fire. This new situation provides favourable conditions for many new organisms which otherwise can not compete for survival. Thus, a new niche is created and leads favourable conditions for a flush of a new community of larger or microbial organisms. In nature such happenings are repeated and help sustain such communities, which otherwise will never survive. Today conservation of energy (fire), water, earth and air are the main concern of man.

Notwithstanding the details given so far, Jainism provided guidelines to avoid certain professions, business or activities which cause violence or health hazards to others or pollution in atmosphere. These are business of charcoal, vehicles, mills, milling, destruction of plants, hewing and digging, trade in men, animals, keeping and using of animals or birds for pleasure.

The self-imposed code of conduct of Jainism in the life style can help protect all with whom we are connected. It is basic in Jainism that every being in this world has its independent existence in its own right, and no one is subordinate to or meant for any other. Thus it is obvious that no other beings are meant for man (or vice-versa).

Today noise is another serious pollution affecting life in big cities. Jains have dealt at length with the effect of sound and noise on other living organisms and have gone to the extent of suggesting not only speaking slowly and carefully but also keeping silence by both laymen and monks for a certain period during the day.

A code of conduct for how to talk, how to walk and how to eat was also suggested. Eating in the night was not considered good as small insects may get into the food and get killed. Besides, eating late in the night may cause ill health and disturb the schedule prescribed for the layman, who must observe a well organised, well scheduled, well monitored way of life for activating his positive potentialities.

Conclusion

Thus, a regular practice of non-violence and non-possessiveness is the principal way for the protection of the environment. They are principles of peaceful co-existence and if they are observed in life and conduct, cruelty to other organism, in subtle and gross form, barbarism, exploitation, obstinacy, cold war and many other evils can be controlled. Jainism recognises individuals not caste,

colour and creed. Jains have never resorted to wars or exerted pressure on others to accept Jainism. Jainism envisages the concept of no harm even to the simplest of the simple organisms or even non-living things as far as possible and austerity for the self. Therefore, there is no question of adversely affecting or disturbing ecology in any sense.

Finally, I must say that those who follow Jainism in its letter and spirit can hardly do an act directly or indirectly, in thought or action by speech or action which may harm nature. Thus in the words of Ācārya Mahāprajña preservation of ecology is the other name of Jainism.

Bibliography

1. Lamont C. Cole : The Ecosphere
2. Charles F. Copper : The Ecology of Fire
3. Lincoln P. Brower : The Ecological Chemistry
4. G. Evelyn Hutchinson : The Biosphere
In Scientific American Resource Library, Reading in the Life Sciences, Vol. 4,7,8 and 9, Taraporevala Publishing Industries Pvt. Ltd., Bombay, 1976.
5. Ācārya Mahāprajña : Acharanga Bhashyam, (commentator), Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun, 1994.
6. Muni Mahendra Kumar : Ayaro (Translator), Today and Tomorrow's Printers & Publishers, New Delhi, 1981.
7. F. Max Muller : Sacred Books of the East (etd.), Motilal Banarasidass Publishers Pvt. Ltd., Delhi, 1989.
8. R. Williams : Jain Yoga, Oxford University Press, London, 1963.
9. George Gaylord Simpson and William S. Beck : Life (An Introduction to Biology), Harcourt, Brace & World Inc., U.S.A., 1965.
10. Paul B. Weisz : The Science of Biology, Mc Graw Hill Book Co., Inc., U.S.A., 1963.
11. Odum : Ecology, Holt, Rinehart and Winston.

Higher Education as a Means of Social Change & Development of Scientific Temper

Prof. Musafir Singh

In order that higher education can serve as an effective instrument of social change, it seems necessary that nature, imperatives and dilemmas germane to each component of the theme, are clearly articulated and their dialectical relationship spelled out. As regards social change, by and large, it is viewed as a value-neutral concept in itself. However, it acquires a value-loaded connotation when it is perceived to affect the general well-being of the people either positively or negatively. All social changes, therefore, are not desired or deemed desirable by all sections of society in the same or similar manner. Desirable changes are presumed to lead to social development as defined by the dominant value ethos of the age or its *Weltanschauung*. Social changes, which cumulatively bring about lopsided development of society, dimensionally or demographically or cause damage to nature's life-support systems, are considered dysfunctional, even dangerous. Those that reinforce social and system's integration, help fulfil the hierarchical need structure of humans or stimulate their evolution towards the omega point are unanimously and ubiquitously welcomed. In order to

appreciate the dynamics of social change, it needs to be underlined that without a framework of value presuppositions the phenomenon of social change simply cannot be understood. It is true without an iota of doubt that social change is the only mechanism that offers an escape route from the suffocating impact of social stagnation but it is also no less true that man/society/culture do not and cannot live and survive by social change alone. Social stability, continuity and identity are equally important pre-requisites of human progress, survival and happiness. Values that are the products of social change and vary with it are known as ephemeral or instrumental values that provide the base for instrumental rationality. Values that make for or underpin social continuity and identity in the thick of cascading events are known as eternal or intrinsic values that provide the base for the substantive rationality. Cultures that lack the expertise of conjoining these two species of values cannot withstand the vicissitudes of history and are destined to collapse. The secret of the uninterrupted endurance of the Indian civilization lies in the fact that it could accommodate the permanent and the perishable in one integral paradigm, a creative synthesis of the Sruti or Sanatan dharma and the Smriti or Yuga dharama. Let there be no misgivings about the infallibility of this truth that it is the value power that sustains life of a civilization and not its economic or political power.

II

The trajectory of social change is not so easy to determine. Even planned change has unintended and unanticipated social consequences. Society moves by cyclical rhythm as well as by linear tension. The law of Retarding Lead operates inexorably, as it were. There is, therefore, no reason for inveterate pessimism or unwanted scepticism in the developing world. If decentralisation is going to be the indefeasible model of the 21st century, the developing nations would have built-in advantages and they will be in a position to rejoice this paradigm shift. The modernisation model which was paraded as a panacea for all the ills of backwardness only a few decades back, has lost its glamorous aura and is now seen as a dubious proposition, an euphemism for Westernisation. The enlightened minds all over the world are now in search of a viable, sustainable model, something akin to the Gandhian,

to pull the world out of the present predicament and avert the looming apocalypse. The course of social change is fraught with imponderable value choices. We have to be unambiguously clear as to what democratically legitimated and consensually validated social design and ideological scenario we have in mind when we talk of social change. When faced with false dichotomies and pseudo ideal types, Indian genius has never opted for an “either or” solution; rather it has evolved a synthesis through transcendence. The question of having vs. being, East vs. West, tradition vs. modernity, material vs. spiritual, progress vs. perfection, technology vs. value, science vs. religion, success vs. significance, man vs. nature, et al has never bothered the Indian perspective. At this critical juncture, we have to exercise our options with great circumspection. Instead of succumbing to the transient and tempting marvels of modernity, we should go in for something more fundamental, elevating and enduring.

III

When we come to science, we again come across a multiple dilemma. Science as a mode of consciousness has no immutable diacritical marks. What is abiding and universal about science is its spirit/temper and not its field, methodology or conclusions. The sine qua non of science is its free spirit of inquiry untrammelled by any ostensible or ulterior motive. It is one of the highest expressions of man’s creative nature and sublime adventure. Uninterrupted and undeterred pursuit of truth, freedom from dogmatism and orthodoxy, dynamic and incredulous mindset, non-acceptance without solid proof, experimental verification and falsification are some of the hallmarks of a scientific temper. It is the pervasive cultivation and dissemination of these traits in society and human personality that would accelerate the pace of social change and pave the way for a genuine and authentic development. There is no gainsaying the fact that the bulk of our populace is bogged down in a mystique of antiquated notions. Unless people are liberated from these psychological constraints and inhibitions through the spread of scientific culture they cannot become the engine of social change.

Science like other creative endeavours of the human mind – religion, philosophy, art and literature – has come to stay and has to co-

exist and co-evolve with them. Any imperialistic design on its part would prove self-defeating and self-destructive. Science in its classical form has not been an unqualified blessing to the humankind and Nature as well. Its mechano-morphic view of the universe, its analytic-reductionist approach to knowledge and its empirico-rationalist perspective on life have played havoc with man and his society. It has traduced man into a chemical phenomenon, a freak of physical nature and his cultural creations a sublimated form of base passions. Science understands the laws of nature and thereby helps technology harness the forces of nature. The two in tandem have inflicted irreversible damage to nature, the very womb that nurtured their creator – the man. The classical science thus has been a mixed blessing. Its functional elan, however, is now on the wane and is gradually replaced by the regime of quantum science. The latter through its holistic/ecological vision is dispensing with all the anti-theses that the classical science has generated and is establishing some sort of a rapprochement and harmony with ancient traditions. The new science is projecting an integrated and holistic picture of life and existence. All antagonistic demarcations between man, society and nature slowly but steadily are being undermined in principle and they are bound to be effaced in practice also sooner than later. Quantum science represents a quantum jump in the realm of human understanding. It is the spirit of this science that needs to be diffused in all corners of society. However, hear also there is a need for caution: scientific truth whether of the classical or quantum variety, is always of an asymptotic nature; it, therefore, cannot provide a secure foundation for civilization building. It must enrich itself in order to deliver unqualified good to mankind with the insights and wisdom discovered by the spiritual cultures of man.

IV

Having explicated the imperatives and dilemmas connected with social change and scientific temper we now turn to Higher Education (HE). The importance of HE cannot be over-emphasised. No civilized society much less social progress is conceivable without HE. It is HE that enables persons and people to shed the deadwood of the past, to escape the gravitational pull of conservative traditions, to cross the boundaries of denominational narrowness and bask in the sunshine of

universalism and humanism. HE is not only the mirror of society, it is also the maker of society; without it no society can be flexible enough to absorb the innovative breakthroughs that are being made so fast in the various domains of human striving. It is HE that preserves, transmits and generates knowledge, which equips man with power to utilise and shape nature's resources to enhance the quality and dignity of his life on this planet. It is these manifest and latent capabilities of HE that compels the Kothari Commission (1964-66) to sing paeans of praise in these words..... "the destiny of India is now being shaped in her classrooms. This we believe, is no more rhetoric. In a world based on science & technology, it is education that determines the levels of prosperity, welfare and security of the people. On the quality and number of persons coming out of our schools and colleges will depend our success in the great enterprise of National Reconstruction". The commission recommended that education should be related to the life needs and aspirations of the people and thereby make it a powerful instrument of social, economic and cultural transformation necessary for the realisation of the national goals.

HE can play this envisioned role only when it has made itself a fit instrument by developing the requisite attributes. However, at present it lacks many of these attributes. Our educational system, as regards its fundamental structures and functions, has been designed by the British in their imperialist mindset. It was fashioned to serve the needs of the government rather than of the people at large. It was intended to demonstrate the superiority of the Western values and institutions vis-à-vis the Indian and the indigenous. It was a workshop to breed highbrow elite to rule and suppress their own kind. It fissioned the nation and society into two opposed camps and classes: one, India of the privileged and powerful and the other, Bharat of the deprived and depressed. This culture seems to have seeped into the very arteries of HE, which it has not been able so far to completely exorcise. Its pernicious presence and persistence can be witnessed in the flourishing numbers and vibrant functioning of the Western-oriented elite institutions that 'embellish' the national scene from the bottom to the apex.

Institutions of HE are obligated more than any other institutions of society to promote the values of democracy, equality, liberty, social justice and secularism as enshrined in the Preamble of our Constitution.

They are also expected to work for the augmentation of the teleological objectives as advocated by the Directive Principles of State Policy. Can they fulfil these Constitutional obligations if they themselves contradict or gloss over these values in their functional normatives? Malcolm Adiseshiah, an eminent social scientist of his time had this to say: Educational system promotes inequality spatially between urban and rural areas, sexually between males and females, generationally between youth and adults, socially between the rich and the poor, fiscally as a conduit for transfer of subsidies from the poor to the rich A study shows that private schools and colleges, which are the preserve of the children of rich families are financed to the extent of seventy percent through public subsidies and tax avoidance. Even more serious; the school and university, through the system of values, attitude and aptitudes that they help to develop also help to mould and condition the students to fit into an unequal and unjust society. Thus, the major social function of the educational system in the developing countries seems to be to legitimise unequal and unjust social system... Education cannot by itself bring about equality in an unequal society or justice in an unjust social order¹.

When our educational institutions themselves are plagued with casteism, communalism, sectarianism and obscurantism, how can they be an effective apparatus to usher in progressive social changes? How can they adopt holistic, systemic, inter-disciplinary and synthetic approaches when the high-profiled educators themselves are cribbed in their narrow grooves of over-specialisation? Let it be etched in their minds that people's problems are inter-related and feedback upon one another and they can't be tackled in isolation and insulation by the so-called experts and specialists. An over-dependence on mere technique unaccompanied by an over-arching vision only accentuates and multiplies problems and it does not solve them. Engineering of social change requires rapport building with the people, a thorough knowledge of their thoughtways and workways, their cultural idioms, some sort of ethno-methodology, a committed plunge in their mundane world. Can the ivory-tower intellectuals and armchair speculators engrossed in fostering their own vested professional interests measure up to these challenges? Indian intellectuals are labelled as having betrayed the masses; they are aligned with the elite and alienated from the people.

Our institutions of higher learning are beholden to those that control the purse strings. They willy-nilly fabricate theories and cognitive cobwebs that suit the class interest of the ruling elite and debilitate the liberating spirit of the poor. They pedal anodyne nostrums and placebos so that they continue to enjoy the favours of their patrons. They tremble when it comes to conscientizing the exploited and the oppressed. They prefer to cling to their credo of political purism. They throw into limbo their critical awareness and creative impulse. Instead of being original in their thought and action, they delight in repeating the past or imitating the West. Unless the sublime spirit of venturesome research and steadfast devotion to truth and an unflinching commitment to universal welfare of the upanishadic times is revived, HE cannot recapture its lost glory. People are moved not by reason alone but by cultural symbols also which our centres of higher learning do not seem to be well-equipped to evolve. The globalisation phenomenon, a new homogenising development, is likely to severely distort the role of HE. Instead of empowering the people, it is empowering the International Capitalism by permitting free entry for multi-national corporations. Capitalist ideology thus is going to have a stranglehold on HE robbing it of its academic freedom, making it its subservient tool and preventing it from acting as a powerful vehicle of social change.

V

The idea that HE has a role to play in the promotion of social change and scientific temper is based upon a number of suppositions and prevailing norms of the age:

- (i) that HE functionaries have a social responsibility towards the community, has to be treated as a categorical imperative, an axiomatic obligation.
- (ii) that institutions of higher learning are part of the wider social system and in order to survive they must have structural, functional and developmental linkages with that system. If they do not develop a two-way communications channel, entropy will set in.
- (iii) that a university must act as a repository and vehicle of universal culture transcending all barriers of time and space, divisions and denominations. Only then can they be imbued with a spirit

- of social service and universal welfare.
- (iv) that HE institutions should have a full-fledged department of community service, acting as a nodal point for coordinating and orchestrating the expertise and extension activities of all other departments.
 - (v) that each departmental curriculum should have built-in mechanisms to relate its contents to community needs, problems and aspirations.
 - (vi) that each department should develop a culture of research to generate new knowledge so as to keep abreast with the ever-changing needs and aspirations of the people. These research findings could be utilised by the voluntary sector and governmental organisations in their nation-building tasks.
 - (vii) that institutions of higher learning must dovetail their policy objectives and action programmes with those of the Five-Year Plans of Government so as to enhance their relevance and effectiveness.
 - (viii) that HE institutions must safeguard their freedom and autonomy at all cost against the forces of invasion emanating from various quarters as without this they won't be able to design their strategy of social change with strings unattached.
 - (ix) that they must work to eradicate superstitious beliefs (e.g., fate, karma, super natural worlds/beings) and atavistic practices that act as impediments to social development.
 - (x) that they must work for the spread of an ecological perspective on life by a fusion of all that is best in ancient wisdom and modern knowledge.
 - (xi) that practice of social change is not always a smooth sailing. It may and does involve conflict situations whose resolution may demand partisan standpoint. In such situations siding with the weak is an unfailing talisman.
 - (xii) that social change may call for altering the status quo and restructuring the existing institutions. This may invite trenchant criticism of the university intellectuals from vested interests. They may be branded as radical activists and peace disturbers. They may also have to incur the wrath of the law keepers but all this they have to put up with exemplary courage and patience.

The exigencies of the present situation demand an absolute commitment to the cause of social change and justice and not only a peripheral or occasional interest.

- (xiii) that the present generation of youth in the institutions of HE, by and large, have been won over by a consumerist culture. They are indifferent to the plight of the poor and seem to have no worthwhile mission. They must be inspired to get involved as principal actors in the drama of social change and national reconstruction.
- (xiv) that there is an imperative need to have a continuous dialogical interaction between HE institutions and the people at the grassroots level in order to forge an unshakable symbiotic bond.
- (xv) that since the advent of multinationals, the nation is called upon to exercise an eternal vigilance. Institutions of higher learning in this respect can act as a watchdog so as to prevent any kind of cultural subversion, wastage of our precious natural resources and degradation of our natural environment.
- (xvi) that our academics in HE through their writings, speeches, TV appearances and various kinds of publications can disseminate scientific information and knowledge having a bearing on the practical life of the people and oriented to a rational, secular ethos. They must take out scientific knowledge from the cloistered environment of the laboratory and library to the field.
- (xvii) that the scientific spirit must govern all the spheres of people's life ³/₄ production (agriculture, animal husbandry, industry) and consumption (nutrition, health, sanitation, housing, etc.). HE institutions can help accomplish this task through the organisation of exhibitions, fairs, street plays, demonstrations and social gatherings.
- (xviii) that institutions of higher learning should have active liaison with business and industrial houses, voluntary organisations and multi-national corporations not only to mobilise necessary finances but also undertake welfare/development projects on their behalf. Such projects must ensure a groundswell of popular support through the full range of public cooperation/participation from policy formulation stage to their implementation and evaluation.

- (xix) that technological applications should be carried out in a manner that they do not disrupt and dislocate the life patterns of people all of a sudden. What is needed is to direct the change in a planned and cautious manner so that people can lend a willing cooperation to such a change. Experiences and examples from several developing countries show that changes, which people do not appreciate or which do not fit in to their cultural milieu are outright rejected. It is, therefore, judicious to observe all the principles of extension scrupulously while advocating adoption of innovations.
- (xx) last but not the least is the role of HE institutions to strengthen and streamline the functioning of all local or village level institutions and people's organisations (Panchayati Raj). HE is rooted in primary education and unless the latter is overhauled completely and purged of its inertia and lethargy, HE as a flowering apex of the educational system, cannot have a qualitative transformation towards excellence. Primary education too cannot mark any substantive or radical transformation unless all organisations at the grassroots level act as its stakeholders. Therefore, it is the religious duty of HE to work in a concerted manner to improve the functioning of all institutions and organisations at the local level to ensure the necessary feedback.

In conclusion, one may say that all exercise to revamp the educational system to enable it to discharge its social responsibilities must begin from bottom up.

¹ Education and Social Justice – Reflections on the future of Development of Education-UNESCO, 1985.

Head
Dept. of Social Work
Jain Vishva Bharati Institute
Ladnun-341 306 (Raj.)

Human slow-wave sleep and the cerebral cortex of the brain

Dr. J.P.N. Mishra

SUMMARY

Recent hypotheses about the role of human slow-wave sleep (hSWS—delta EEG activity) are appraised. The possible linkage between hSWS and the functions of the prefrontal cortex (PFC) are explored with respect to normal subjects and to disorders involving PFC deficits.

KEYWORDS : depression, human slow wave sleep, prefrontal cortex, schizophrenia, thermoregulation

THERMOREGULATION

Human SWS (hSWS— sleep stage 3+4 of NREM sleep i.e. delta EEG activity) is not only affected by the length of wakefulness but also by its quality. For example, raising core body temperature by about 1.5-2.0°C for at least 30 min during the day increases hSWS (Home and Shackel, 1987). The nearer the proximity of the heating to sleep the less the dose that seems to be required for a given hSWS increase. This may be due to a slow decay in the heating effect over the interim waking period between heating and sleep. Or, there may be a circadian factor (e.g. the heating effect is greater at the acrophase). Interestingly, finding

तुलसी प्रज्ञा अक्टूबर-दिसम्बर, 2000 101

of Horne and Shackeel (1987) indicates that the heating effect on hSWS seems not to appear in the first nighttime sleep cycle, but in the second and third ones. Thus, a discontinuity seems to be added to the usual exponential decay of hSWS over the sleep cycles. If subjects are woken up within the normal sleep period, heated and then allowed to return to sleep, then there is a consolidation period of about two hours before the hSWS effect is shown (Bunnell and Horvath, 1985). These indications of a lag or buffer between the cause during wakefulness and the hSWS effect may apply to other findings also.

Body heating also applies to the brain, and this could well be the key to the hSWS increases. As to why this may be so, the possibilities include: (i) the increased brain temperature leads to rises in brain metabolism (Arrhenius's Law) and, for example, accelerates the accumulation of waking (or sleep) factors that promote hSWS; (ii) the remaining small increase in brain temperature (about 0.2°C) at sleep onset after body heating may stimulate hSWS (Berger et al., 1988).

There are at least two contrasting schools of thought concerning why a slightly elevated core temperature at sleep onset should increase hSWS. One is embodied in Sewith's (1987) "Thermodownregulation" hypothesis, and the other in Berger's "hSWS is for hypothermia" hypothesis (Berger et al., 1988). The latter incorporates an energy conservation role for hSWS, where it is proposed that hSWS actively increases heat loss to reduce body temperature - the higher this temperature at sleep onset, the more the subsequent hSWS to bring the temperature down. Both hypotheses argue that hSWS is the slave of thermoregulation; however, experimental support for both of them is equivocal (Jordan et al., 1990).

There is little evidence showing that metabolic rate falls to any remarkable extent during hSWS (especially during stage 4) per se compared with other sleep stages (Ryan et al., 1989). Using Ryan et al.'s data, for example, it can be calculated that the energy saved in sleep by entering hSWS for 100 min rather than staying in stage 2 is approximately 30 kJ (equivalent to the energy content of one peanut). The overall reduction in energy expenditure during sleep (regardless of sleep stage) compared with relaxed wakefulness, is less than 450 KJ (equivalent to a slice of bread). This is not enough to warrant claims that human sleep even in its entirety is primarily a hypometabolic or

energy saving state (although this may well be so in small mammals) (Horne,1988). Thus, energy conserved during human sleep must be incidental.

Any role hSWS could play in reducing metabolic rate is further confounded by the actions of:

- (1) prior sleep onset, which itself has a small but significant effect in reducing body temperature (Gillberg and Akerstedt, 1982).
- (2) the circadian trough in metabolic rate that is present regardless of sleep.

The marginal decrease in body temperature during hSWS is probably due not so much to the small fall in the metabolic rate, but to the increased sweat-rate that is to be found during hSWS (Libert et al., 1988). This has been thought to be a sign of active thermolysis and part of the energy conservation mechanisms. However, the temperature fall may only be secondary, as the elevated sweating may well have little to do with thermoregulation, but may simply be the result of a cortical disinhibition of sweating (Kuno, 1956) due to the lowered cortical activity of hSWS itself. Whilst sweating is the main thermolytic mechanism used during wakefulness, it can not be viewed to be an effective method for thermolysis whilst one is asleep in bed, with little airflow around the body.

McGinty and Szymusiak (1990) have proposed that during wakefulness the brain is working at a temperature close to dangerous levels, and that another role for hSWS is a protective one, to lower brain temperature. But such an idea lacks strong support, especially as our 37°C is quite a safe working level for a mammalian brain, and is comparatively low (Burger and Fuhrman, 1964).

HSWS AND THE PREFRONTAL CORTEX

Human SWS can be increased through non-thermal mechanisms, following the near-continuous assimilation of novel, intense but interesting visual information throughout much of the waking day (Horne and Minard,1985). Sleep length and REM sleep are unchanged. The elevated alertness and search behaviour during wakefulness would have heightened waking cerebral metabolic rate (CMR). Whilst this is an effect common to that of body (brain) heating, it is not necessarily indicative of a common underlying cause of the hSWS increases.

A region of the cortex that would probably have been especially activated by such cognitively busy days is the prefrontal cortex (PFC). Its key roles are maintaining and directing attention and non-specific arousal, making plans, initiating novel behavior and the recruiting of other cortical areas required to deal with tasks in hand (Luria 1973; Fuster, 1989). Of the senses, vision makes a particular demand of the PFC, and this is reflected by the presence of the frontal eye fields. The PFC also seems particularly involved in the manifestation of hSWS in general. Not only is hSWS at its most intense in this region (Buchsbaum et al., 1982), but also, this is where the low CMR levels during sleep are at their nadir (Sawaya and Ingvar, 1989). In contrast, the PFC is the cortical region having the greatest waking CMR ('hyperfrontality'-Buchsbaum et al., 1989), even during relaxed wakefulness. The waking EEG is of a higher frequency in the PFC than elsewhere over the cortex (Mathew, 1989-EEG frequency is positively correlated with CMR). Thus, it might be argued that the reason why hSWS and what appears to be more intense 'cerebral rest' are most evident in the PFC is that this is where waking activity is greatest. Accordingly, the build-up during wakefulness of some form of sleep process, neurotransmitter or peptide may be more intense in this region. Brain heating or other forms of increasing brainwork may simply accelerate this build-up.

But the PFC may have a more subtle role to play, as the integrity of this area seems to be important for the generation of hSWS. The PFC has complex connections with most other cortical lobes, the basal ganglia, the raphe and locus ceruleus, and may control its own serotonergic and noradrenergic input (Berman and Weinberger, 1990). Coherence analysis of sleep EEGs points to the PFC being a focus for hSWS (Nielsen et. al., 1991-coherence reflects connectivity between various parts of the cortex). Ageing leads to a diminution in hSWS and coincidentally or otherwise the most marked age changes in brain morphology seems to be in the PFC (Scheibel et. al., 1975; Parkin and Walter, 1991). Obviously, the PFC is not solely generated hSWS, but rather, this region may act to facilitate hSWS generation throughout the cortex. Of course, the PFC may only be a link in a chain, with the stimulus for it to generate hSWS coming from deeper within the brain. One question this raises in relation to Process S, is whether this process has differential decay dynamics from one cortical region to another?

Interestingly, total sleep loss produces clear (reversible) PFC deficits in relation to neuropsychological performance and behavior. But whether these findings are associated with a loss of hSWS rather than sleep in general, is another matter.

It appears that impairment to the PFC attenuates hSWS throughout the cortex, not just prefrontally. For example, in type 2 schizophrenia there is little hSWS and no stages 4 (Ganguili et al., 1987). This schizophrenia mainly reflects negative symptoms, for example, inability to focus on relevant issues, distractibility, paucity of speech, stereotyped thinking (Crow, 1989). In fact these negative symptoms themselves reflect a PFC deficit, although, there is more to this disorder than just a PFC anomaly. The disorder is also accompanied by hypoactivity of the PFC (Barnes, 1989; Berman et al., 1986. - "hypofrontal" CMR pattern). There may even be an inverse relationship between hSWS levels and the magnitude of the negative symptoms (Ganguili et al., 1987).

Many depressives have low levels of hSWS, especially stage 4; the effect is more prominent in the first sleep cycle, and in middle age. Severe depression is also accompanied by a hypofrontal waking CMR pattern (Bench et al., 1989), which is significantly positively correlated with Hamilton rating scale scores. Unfortunately no study in depressives has yet determined whether there is any correlation between these hypofrontality and hSWS levels. Whether or not the manipulation of hSWS has any central role to play in the treatment of depression, is an unresolved matter. Interestingly initial hSWS levels are indicative of the therapeutic outcome from depression and responsiveness to interpersonal therapy (Kupfer and Reynolds, 1989- "delta sleep ratio" hypothesis).

For both type 2 schizophrenia and severe depression there is the problem of cause and hSWS effect, that may differ markedly between the disorders. Is the onset of depression, for example, due to personal/psychological problems, leading to chronic disinterest in the outside world, less use of the PFC, PFC 'atrophy' neuropsychological deficits, hypofrontality and low hSWS? On the other hand, does the reverse happen in type 2 schizophrenia- a neurological disease process of the PFC that predisposes the patient to the manifestation of schizophrenia?

May be depressed patients with a higher delta sleep ratio are those whose PFC is more in contact with the outside world, and who can better maintain attention to relevant stimuli? For these reasons they would be more responsive to interpersonal therapy.

REFERENCES

- Barnes, T.R.E. (ed.). Negative symptoms in schizophrenia. *Br. J. Psychiat.*, 1989, 155, Suppl. 7: 1-135.
- Bench, C.J., Dolan, R.J., Friston, K.J. and Frackowiak, R.S.J. Positron emission tomography in the study of brain metabolism in psychiatric and neuropsychiatric disorders. *Br. J. Psychiat.*, 1989, 157, Suppl 9: 82-95.
- Berger, R.J., Palca, J.W. and Phillips, N.H. Correlations between body temperatures, metabolic rate and slow wave sleep in humans. *Neurosci. Lett.* 1988, 86: 230-234.
- Berman, K.F. and Weinberger, D.R. The prefrontal cortex in schizophrenia and other neuropsychiatric diseases: in vivo physiological correlates of cognitive deficits. *Prog. Brain Res.*, 1990, 85: 521-537.
- Berman, K.F., Zec, R.F. and Weinberger, D.R. Physiologic dysfunction of dorsolateral prefrontal cortex in schizophrenia, 2. Role of neuroleptic treatment, attention, and mental effort. *Arch. Gen. Psychiat.*, 1986, 43: 126-135.
- Buchsbaum, M.S., Gillin, J.C., Wu, J., Hazlett, E., Sicotte, N., Dupont, R.M. and Bunney, W.E. Regional cerebral glucose metabolic rate in human sleep assessed by positron emission tomography. *Life Sci.*, 1989, 45: 1349-1356.
- Buchsbaum, M.S., Mendelson, W.B., Duncan, W.C., Coppola, R., Kelsoe, J.C. Topographical cortical mapping of EEG sleep states during daytime naps in normal subjects. *Sleep*, 1982, 5: 248-255.
- Bunnell, D.E. and Horvath, S.M. Effects of body heating during sleep interruption. *Sleep*, 1985, 8: 274-282.
- Burger, F.J. and Fuhrman, F.A. Evidence of injury by heat in mammalian tissues. *Am. J. Physiol.*, 1964, 206: 1057-1061.
- Crow, T.J. The type 2 syndrome. *Br. J. Psychiat.*, 1989, 155, Suppl. 7: 15-20.
- Fuster, J.M. *The Prefrontal Cortex*. Raven Press, New York, 1989.
- Ganguli, R., Reynolds, C.F. and Kupfer, D.J. Electroencephalographic sleep in young, never-medicated schizophrenics. *Arch. Gen. Psychiat.*, 1987, 44: 36-44.
- Gillberg, M. and Akerstedt, T. Body temperature and sleep at different times of day. *Sleep*, 1982, 5: 378-388.
- Horne, J.A. *Why We Sleep: the functions of sleep in humans and other mammals*. Oxford University Press, Oxford, 1988.
- Horne, J.A. and Dimensions to sleepiness. In: T. Monk (Ed.) *Sleep, Sleepiness and Performance*. Wiley, Chichester, 1991: 169-196.
- Horne, J.A. Minard, A. Sleep and sleepiness following a behaviourally active day. *Ergonomics*, 1985, 28: 567-575.

- Horne, J.A. and Shackell, B.S. Slow wave sleep elevations after body heating: proximity to sleep and effects of aspirin. *Sleep*, 1987, 10: 383-392.
- Jordan, J., Montgomery, I. and Trendier, J. The effect of afternoon body heating on body temperature and slow wave sleep. *Psychophysiology*, 1990, 27: 560-566.
- Kuno, Y. *Human perspiration*. Thomas, New York, 1956.
- Kupfer, D.J. and Reynolds, C.F. Slow wave sleep as a protective factor. In: A.J. Stunkard and A. Baum (Eds) *Eating, Sleeping and Sex*. Lawrence Erlbaum Associates, New Jersey, 1989: 131-145.
- Libert, J.P., Di Nisi, J., Fukuda, H., Muzet, A., Ehrhart, J. and Amoros, C. Effect of continuous heat exposure on sleep stages in humans. *Sleep*, 1988, 11: 195-209.
- Luria, A.R. *The Working Brain*. Penguin, London, 1973.
- Mathew, R.J. Hyperfrontality of regional blood flow distribution in normals during resting wakefulness: fact or artifact? *Biol. Psychiat.*, 1989, 26: 717-724.
- McGinty, D. and Szymusiak, R. Keeping cool: a hypothesis about the mechanisms and function of slow wave sleep. *Trends Neurosci.*, 1990, 13: 480-487.
- Nielsen, T., Godbout, R., Petit, D., Montplaisir, J. and Abel, A. Intrahemispheric EEG coherence: role of frontal lobe connections in EEG slow wave generation. *Sleep Res.*, 1991, 20: 28.
- Parkin, A.J. and Walter, B.M. Aging, short-term memory and frontal dysfunction. *Psychobiology*, 1991, 19: 175-179.
- Ryan, T., Mlynczak, S., Erickson, T., Man, S.F.P. and Man, G. C.W. Oxygen consumption during sleep: influence of sleep stage and time of night. *Sleep*, 1989, 12: 201-210.
- Sawaya, R. and Ingvar, D.H. Cerebral blood flow and metabolism in sleep. *Acta Neurol. Scand.*, 1989, 80: 481-491.
- Scheibel, M.E., Lindsay, R.D., Tomiyasu, U. and Scheibel, A.B. Progressive dendritic changes in aging human cortex. *Exp. Neurol.*, 1975, 47: 392-403.
- Sewith, D.E. Slow wave sleep deficiency insomnia: a problem in thermo-downregulation at sleep onset. *Psychophysiology*, 1987, 24: 200-215.

Concept of Soul in Janism

—Sadhvi Vishrut Vibha

There are two major trends of Philosophy that of Idealism and Realism. Jainism is a realistic philosophy because it contends that both 'Jiva' and 'Ajiva' are real, non-illusory entities. The Jain principle of reality is based on the interaction, which is responsible for the cycle of birth and rebirth. The basic question is how a worldly soul can become free from the cycle of birth and death. The Nine Tatvas (realities) are the basic principles which help us to answer this question. According to Jain Agamas, the nine realities are;

1. Jiva : (Soul or conscious reality)
2. Ajiva : (non-soul or non-conscious reality)
3. Punya : (Merit or auspicious karmic matter in fruition)
4. Paap : (Demerit or unauspicious karmic matter in fruition)
5. Asrava : (Cause of inflow of karma)
6. Samvara : (Stoppage of cause of inflow of karma)
7. Nirjara : (Shedding of karma).
8. Bandh : (both inauspicious and auspicious karmic bondage)
9. Moksh : (Freedom from karmic bondage or emancipation)

The renowned scientist Albert Einstein was once asked, “What do you want to become in your next birth? Einstein replied that he made an effort to know the object (matter) in the present life but he wanted to be a monk in the next life so that he could know the subject (knower) To know the knower is a central philosophical query. In Jainism, this ‘Knower’ is the Jiva or soul-the reality characterised by consciousness. The soul, which is of a non-physical order of existence, is the principle of consciousness.

Jain philosophy presents a dual world-view and it postulates Jain existence of Jiva (soul) as well as ajiva (non-soul). Neither the existence of jiva is caused by the ajiva, nor vice-versa. Both existences are eternal and independent of each other. Consciousness is the inalienable characteristic of the Jiva, however, undeveloped it may be, while ajiva is devoid of all consciousness. Consciousness is present even in nigoda (the least developed species of living organism) and through its progressive development it too will culminate in the supreme state of the soul, namely, omniscience.

The Soul itself is devoid of all material or physical qualities such as colour, smell, taste or touch, so it is not perceivable by the sense organs which only cognize material objects. Those who do not accept the existence of the soul consider sensory knowledge to be the only source of knowledge. They contend that nothing exists beyond sensory knowledge. But this view is untenable. How can we accept knowledge, which is fragmentary, as an authority? For an example let us consider the microscope. It is a modern invention, which enables us to augment our sense of sight and thereby allow us to see even the smallest of germs. Without the microscope, our senses could not perceive these germs, but would it be right to deny their existence? The more powerful the instrument of observation, the clearer the knowledge which we have of concrete objects, but not of abstract ones. The soul, however, can observe subtle and abstract objects through its extra sensory perceptions. Its knowledge is always perfect and absolute.

The existence of soul can be ascertained through inference. Just as invisible air can be felt through tactile perception so too can the soul be realized through extra-sensory knowledge and extra-sensory perception.

According to the modern sciences of Anatomy and Physiology, the human body undergoes decay at every moment. The cells of our body are transferred completely within a span of seven years, but our existence remains intact. The same case is applicable to the soul, which is ever lasting, but the abodes within which it takes existence are multifold. According to Jain Philosophy, the soul's existence is eternal, but the forms or the modes of the soul are ever changing. Thus for example, though a man is born on a particular day and will cease to exist as a man when he dies, his soul has been existing since time immemorial. Thus the form of a man has a beginning and an end, but the existence of a soul has neither beginning nor end. It will ever remain as a soul.

The great philosopher Acharya Shri Mahaprajna explains the existence of soul in a simple language, "There is a subtle body in our gross body, known as Tejas Sarira (electric body). There is an even more subtle body called Karmic body and there resides the soul. The soul directs our conduct, thought and behaviour. The rays of consciousness pass through the Tejas Sarira and Karman sarira and manifest in the gross body. Thus, although, we find that the soul is not directly cognized by us because it is formless. On the basis of its property, we can easily infer its existence."

According to Jain philosophy, the soul is the progenitor of karmic bondage and also enjoyer of its fruits. It is responsible for the attraction of both good and bad karma and karma is the root cause of transmigration of soul.

Jainism holds that the soul has no size, it is sizeless. It pervades the whole body, irrespective of size, When it is in an ant's body or in an elephant's body, for example, it pervades it fully. The number of soul points are the same in both cases.

The classification of Jiva

Siddha and Sansari : (Liberated soul and worldly soul)

Jivas have been classified into two types. 1. Sansari (worldly) 2. Siddha (liberated soul). Samsari jivas transmigrate from one birth to another. Siddha jivas are free from the cycle of birth and rebirth. Both types of Jivas are infinite in number. Below is a chart showing the differences between the Sansari and Siddha jivas :-

Sansari

1. Undeveloped soul
2. Soul covered by the veils of karma hence subjected to its effects
3. Soul subjected to karmic bondage
4. Soul indulging in activities
5. Subjected to transmigration in the cycles of birth, death and rebirth
6. Possessed of sense organs
7. With form
8. Possessed of subtle body

Siddha

1. Developed soul
2. Soul free from the veils of karma
3. Free from karmic bondage.
4. Soul free from activities
5. Free from transmigration of birth, death and rebirth.
6. Devoid of sense organs
7. Formless
8. Not possessed of body, bodiless

Samsari jivas are further classified into many kinds :

1. Bhavya and Abhavya :

Bhavya means capable of getting emancipation and abhavya means incapable of getting emancipation. The question arises here why some persons attain emancipation while others do not. What is the reason behind it? Although consciousness exists in each living being, only some are able to develop their internal powers fully. Those who are incapable of this development are known as abhavyas. Every stone has the potential to be transformed into a statue but not all pieces of stone will become statues. Only reaching at the hands of a skilled sculpture it will achieve this end. Likewise, only living beings which have a congenial atmosphere may attain emancipation, the others cannot.

2. Trasa (Mobile) and Sthavar (Immobile) :

Those living beings which are capable of movement are trasa and those living beings which are devoid of this capacity are known as sthavar. The latter are further divided into five kinds viz. (1) Earth-bodied (2) Water-bodied (3) Fire-bodied (4) Air-bodied and (5) Plants.

The beings possessed of two, three, four and five sense-organs come under the category of the trasa. Worms, ants, black-bees and human beings are example of living beings which are possessed of two, three, four and five sense-organs respectively.

3. Suksma (Subtle) and Badar (Gross) :

Among the five kinds of sthavar jivas, the suksma are spread over the whole of cosmic space, while the badar ones occupy only a part of it.

4. Samanaska (Endowed with mind) and Amanaska (Deprived of mind) :

The jivas which possess the capacity of sustained thought activity are those which are endowed with mind. Others, which are devoid of thought activity, are regarded as deprived of mind. The denizens of hell and heaven, as well as all the vertebrate animals and human beings are samanaska.

The Relationship between the soul and the body :

The soul and the body are two different substances having their independent existence. The former is formless while the latter is possessed of form. The question arises here as to how these two different substances interact with each other. Jain philosophy tries to solve this problem of interaction through its concepts of gross and subtle bodies. At the time of death, the gross body is left behind while the subtle one continues to be connected with the soul. When the soul enters its next birth, it carries the subtle body with it and creates another gross body with the help of subtle body. The relation between the soul and the subtle body is considered to be beginningless. It is connected with the soul as long as the soul is bound with karma. When karma particles are completely separated from the soul, it achieves its natural state which is formless and thus permanently severs its connection with all bodies, both subtle and gross. Thus, although the relationship between subtle body and soul is beginningless it has an end. Since the soul through its own efforts can free itself from its association with the subtle body. Then the soul becomes perfect and it enjoys its own pure state without being affected by any other external forces.

According to Jain Philosophy, the soul possesses infinite knowledge, infinite power and infinite bliss inherent in the very nature of soul. They are distracted by karmas, just as the natural light of sun is distracted by clouds. By removing karmas, the soul can attain the highest stage of perfection, which is emancipation.

The Problem of Crime and Punishment : A Humanistic Approach

— Dr. Anil Dhar

Problem

Crime had been a constant irritant for different types of rulers and the social reformers. It is a major social problem and since ages society is trying to minimise it. Society cannot be benefited by letting crime have its own way without attempting to eradicate it by psychologically sound methods. Crime is a phenomenon, which is of primary concern to every members of society. Crime co-exists with society. Unless the task of social and economic development of the society and the restructuring of its social order is seriously and intelligently taken up and the evil features of the administrative and political system eliminated, the crimes cannot be rooted out. In fact, it is a common notion that criminals are not born but made. Social philosophers and reformers believe that no man is born criminal. Kahlil Gibran sees human nature as basically good, asserting that man does not turn bad unless circumstances go against him. Good and evil are two names for the same thing and are not separated except by a thin line. Man is victimized by his human weakness, his physical and emotional needs and the bad economic and environmental conditions he has to endure which often push

him to commit evil deeds¹. Circumstances and injustices, which a man is unable to tolerate or cope with, make him as such. That's why reformists are of the opinion that 'do not hate criminals, hate crimes.'² It means that by simply punishing or killing criminals, we cannot eradicate crime in society. And, the various legal system have failed to eradicate crime in society since the ages because it has confined itself to crime and criminals only.

Man has failed to introduce into its criminal or penal law the truly humanising elements of mercy, compassion and understanding for those who are inclined to commit acts which are anti-social and harmful to the common interest of society as a whole. The objects of punishment are to bring about reformation of the offender, to prevent him from committing crime again. Punishment cannot work through repressive method as it does not off the criminal desires. The tendency of modern punishment should be to use old-re-educative methods, which in result will be more meaningful and more capable in reformation and treatment of criminals. None of the criminal is so hardened that he will not respond to the sympathetic, reformatory and non-violent approach. After-all the history is full of the examples of change in heart. But to adopt this type of trend we have to study thoroughly the causes of crime, then only, we will be able to remove those causes which give origin to it.

Crime

Crime has always been present in the human society. Its universality and inevitability is recognised by all the major sociologists and philosophers. Emile Durkheim says "There is no society that is not confronted with the problem of criminality. Its form changes the act, thus, characterised are not the same everywhere, but, everywhere and always, there have been man who have behaved in such a way as to draw upon themselves penal repression. To classify crime among the phenomenon of normal sociology is not to say merely that it is inevitable, although regrettable phenomenon, due to incorrigible wickedness of men, it is to affirm that it is a factor in public health, an integral part of all health societies:"³ Crime means any act or omission, which under the law for the time being in force in the country concerned, is made punishable. What may be a sin-a wrongful act morally, is not a crime if not so regarded by the law (of the state) for the time being in force. And on the other hand, what may be regarded by the law as a crime may not be

morally wrong. Hence, a crime may be defined as an act or omission, sinful or non-sinful, which a society or a State has thought fit to punish under its laws for the time being in force. Various definition of crime have been given by various thinkers. Halsbury defines crime as “an unlawful act or default which is an offence against the public, and which renders to perpetrator of the act or default liable to legal punishment.”⁴ Michael and Alder regard ‘Crime’ as merely “an instance of behaviour prohibited by criminal law.”⁵ Sellin regards crime as deviation from, or breach of a conduct norm. This deviation or breach is punished by society by means of its sanctions.⁶ P.W. Tappan in his article “Who is criminal” gives the definition of crime, “as defined by law, a crime is an intentional violation of the criminal law, committed without defence or excuse, and penalised by the State.”⁷ Thus, crime is an act or omission which the law thinks fit to punish.

There are many factors and causes behind crime such as biological, socio-psychological and economic. In Gandhian view socio-economic factor is most important factor because according to Gandhi man is inherently good.⁸ But, in legal language, the man who violates the provisions of law with the intention of doing so is a criminal and is an anti-social being. He harms individual as well as society. We can say, that the criminal is a mentally morbid or emotionally disturbed person, a maladjusted being, most often a victim of unfavourable circumstances or of lack of cultural and moral education. In some cases, he acts like an untamed animal, and is out to assault even with a dangerous weapon, on the slightest provocation. To sum up, there are two fundamental approaches to explanation of crime; first is individualistic or subjective and second is environmental or objective approach. Individualistic approach lays emphasis on the personality of the criminal. It considers crime as a product or expression of the individual constitution. The environmental approach takes into consideration the physical and social conditions which produce criminogenic influences on certain type of people called criminals. It considers crime as a product or expression of society.

Punishment

The concept of punishment is an old one. If a person has deliberately done the wrong action as a result of his own free will, he will be considered guilty and is liable to punishment. The justification for inflicting punishment on an individual lies in this, that he has deliberately

done that wrong, knowing the nature as well as the consequences thereof. Kant⁹ says that punishment is an end in itself. Punishment of criminals, guilty of the violation of moral law, has been held by him as imperative. Hegel¹⁰ has justified punishment as necessary to annul the injury to the society produced by crime. Punishment, according to him, is a logical compliment to crime. Rechless¹¹ remarks that it is the redress that the commonwealth takes against an offending member. according to Westermarek, “punishment is limited to such suffering as is inflicted upon the offender in definite way, or in the name of, the society of which he is a permanent or temporary member.¹² Thus, punishment has been considered as a means of social control to maintain some degree of social equilibrium and to induce conformity to the established rules of society.

The history of punishment for the eradication of crime, starts with the rule of the jungle resulting in ‘deterrent’ theory. The ancient logic was that if a man kills, he in turn should be killed. Historically, punishment was harsh and corporal punishment was predominant. In the classical age, penalties were prescribed by various religious moral codes. The code of Hummurabi, Hebrew codes, Manu Samhita, the Talmud, all laid down principles of responsibility for crimes, private vengeance and the avoidance of such vengeance by provision of holy refuges for the offender.¹³ In the Mediaeval age private vengeance continued, but evidence was necessary for trials. Reformation involved religious redemption, which could be obtained by paying a debt to society or through spiritual penance through the performance of various difficult rituals. The modern penology recognises the need for changing the anti-social attitudes into social attitudes but as yet punishment as a vengeance or a deterrent has not been given up. However, the greatest achievement is this, that this has been recognised clearly that man’s personality is not separated from his social environment and the objects of punishment are to bring about reformation of the offender, to prevent him from committing crime again. Punishment cannot work through repressive method as it does not root off the criminal desires.

Theories of Punishment

The primary objective of punishment is to protect society from crimes and criminals. The existing justification of punishment, some of them ancient and some of them more recent in origin are (i) retribution, (ii) deterrence, and (iii) reformation.

As a theory of punishment retribution is the oldest justification of punishment. This theory of punishment holds that the aim of punishment is to make the offender suffer what his victim has suffered, and so this theory appears to justify the law of “an eye for an eye and a tooth for a tooth.” In Hammrabi’s code (1875 B.C.) it was provided, “If a man has caused the loss of patrician’s eye, his eye one shall cause to be lost. If he has shattered a patrician’s limb, one shall shattere his limb. If a man has made the tooth of a man that is his equal fallout, one shall make his tooth fallout.¹⁴ Retribution considers punishment a means of restoring the social balance existing before the perpetration of the crime. But, it in itself is not a remedy for the mischief of the offence, but an aggravation of it. Punishment need not be an end itself but should be an instrument for the attainment of social welfare.

According to the theory of deterrent punishment, the aim of punishment should be to deter others from committing similar offences in future. Again the punishment to be inflicted on the criminal should be such as to make him an example for others and such exemplary punishment shall always check others from doing the same kind of wrong. One of the serious objections levelled against this theory is that it uses the offender as means to the good of others. To punish a man in order to convey a lesson to others is unethical and inhuman. Secondly, this fact has been overlooked that the criminal behaviour is largely emotional and many crimes are committed in a moment of excitement without a thought for the future penalty. Thirdly, the real weakness of the deterrent theory is that if the only purpose of punishment is to deter people from wrong-doing, it does not really matter whether the person punished is innocent or guilty.¹⁵

According to the theory of reformatory punishment, the aim of punishment should be to reform the character of the offender. The value of punishment lies in educting the offender so as to bring him to a normal place of his life. Thus, the purpose of punishment should be to change the values of criminals and modify deviant behavioural patterns. The need for reformation was felt long before by Pope Clement XI, who was of the opinion that, it is insufficient to restrain the wicked by punishment, unless you render them virtuous by corrective discipline.¹⁶

The Humanistic Approach

The house of correction in England and the early prison system

in America were supposed to teach offenders a lesson and correct their shortcomings. But, later on with the advancement of civilization, reformative view was adopted. Reformatories were established with a programme of work education, recreation, and religious services with the purpose of rehabilitating the offender and preparing him for his entrance back into law abiding society. Criminals are treated as patients. In the Gandhian philosophy criminals are treated as a sick man, as a diseased man. According to Gandhi "Sinner is equal to the saint in the eye of God. A saint who considers himself superior to sinner forfeits his sainthood and becomes worse than sinner who, unlike the proved saint, know not what he is doing".¹⁷

Gandhian theory of crime and punishment was based on the unity of non-violence. Voluntary and unconditional surrender of the Chambal bandits at the instance of Acharya Vinoba and his followers in 1960 was indeed a social miracle.¹⁸ It was small in its dimensions but great in its significance and hidden potentialities. It proved beyond doubt the desirability and efficacy of the non-violent approach in solving even sociological problems of administration, of justice, of maintenance of law and order and of dealing with crime.

Following Gandhi and Vinoba, Jay Prakash Narayan in 1972, made an experiment of non-violent approach to the solution of the problem of crime, by persuading successfully the Chambal valley dacoits to self-surrender.¹⁹ Thus, a spiritual change of heart was also made possible even in hardened criminals by this method. On J.P.'s plea for the adoption of a policy of reconciliation and liberal treatment for surrendering dacoits, an open jail was established at Mungawali in Guna District of Madhya Pradesh. This Jail is unique among the modern jail. According to J.P., "This experiment has much deeper and wider sociological significance than other similar projects undertaken earlier in India in imitation of correctional practices prevailing in most western and other Asian countries."²⁰

The humanistic or non-violent approach consisted on treating the person or persons concerned with real love, sympathy and understanding. Gandhi employed this method many times and on most occasions he succeeded. His experiments in the application of truth and non-violence to problems in the social, economic, political and legal fields are a great legacy to Indian people in particular and the whole of mankind in general. He did view crime in a unique manner, in the context of the toil surroundings. Similarly this concept of punishment was

humanistic one, largely premised on the aim of reform and rehabilitation of the criminals. The Influence of his humanistic philosophy is very much evident on various legislative acts and judicial decisions. The humanistic theory of dealing with crime and criminals aims at sympathy, love and compassion and it emphasizes on the abolition of avarices, greed and non-possession of wealth and also advocates for non-violent approach to the solution of the problem of crime and criminals. In fact, the totality of the penology must be directed towards modifying the offender's behavioural patterns with the different technique and methodology. Meditation can play a role of beacon light towards this direction.

Preksha Meditation programme has been conducted inside some jails in Rajasthan State. The objective of programme was to apply the technique for the normalization and minimization of aggressive and deviant behaviour of the inmates of the prison. The hypothesis was that the accumulation of stress in nervous system, increased due to the abnormal flow of the secretion from the glands and due to the prison environment causes fatigue and produce physiological and psychological disorders such as anxiety, tension, depression, irritability, worry, high blood pressure, insomonia, headache, confusion and consequently stress mounts in which mistakes and maladaptive behaviour become unavoidable. Since stress is now medically understood as a major contributor to disease, it should also be recognised as a major factor in crime. And for its cure Preksha Meditation technique has been prescribed by many physician and psychiatrists as a preventive measure of crime and delinquency.

The elimination of stress and the culturing of orderly thinking is a positive development towards crime prevention. The result of Preksha Meditation are highly encouraging. Participating inmates exhibit increased interest in vocational and educational pursuits, while prison staff experienced a significant decrease in disciplinary problem among inmates. These responses are exactly opposite to criminal patterns of behaviour.

There is a great need of change in attitudes and values of individuals and society, if we wish to have an effective crime prevention programme. Education has an important role to play in moulding of character, hence, the elements of values files non-violence, peace, humanright, environmental ethics, conflict-resoluton etc. should be inculcated in our educational curriculum of elementary to higher educa-

tion. There are some values and virtues in our culture which may certainly lead us to constructive, cooperative social behaviour. The need is to re-introduce and promote those values in the society, which are primarily responsible for the formation of our social behavioural patterns. The promotion of higher values of human life in our society is the need of the day and it can be considered as an effective measure of crime prevention programme. But first of all, we are to organise a fresh value system in our communities, through which we can educate and make the persons understand the importance of moral life and responsible social behaviour which shall ultimately lessen the antisocial and immoral behaviour. Perhaps the most basic change needed in the interest of crime prevention would be the incorporation in our culture a genuinely humanistic, hoistic and non-violent approach which sees criminals as victim and not an offender of the society.

References

1. Khalil Gibran Reader, Khalil Gibran, p. 75.
2. Ramjee Singh, Gandhi Vichar, p. 275-276.
3. Cited by Sidique Ahmad in his "Criminology, Problems and Perspective, p. 1.
4. Cited by K.S. Pillai, Principle of Criminology, p. 17.
5. Michael and Adler, Crime, Law and Social Science, p. 20.
6. Sellin, Culture, Conflict and Crime, pp 32-33.
7. Gwayann Nettler, Explaining Crime, p. 13
8. Thakur Rajbahadur Singh, Gandhiji ki Suktian p. 78.
9. Bryan Magee, The Great Philosophers, p. 171
10. Allen W. Wood, Hegel's Ethical Thought, pp 108-110.
11. Walter C. Reckless, The Crime Problem, p. 487.
12. E. Westermarek, The Origin and Development of the Moral Ideas, vol. I.
13. D. R. Bhandari, Problem of Crime and Punishment and Justice, p. 109
14. Ibid, p. 117.
15. William Lillie, An Introduction to Ethics, p. 281
16. E. Harry Barness and Negley K. Teeters, New Horizons in Criminology, p. 475.
17. Thakur Rajbahadur Singh, Gandhi Ji ki Suktian p. 101
18. Prabash Joshi, Anupam Mishra; Sharvan Kumar, Chambal ki Bandooken; Gandhi ke Charan Mein, p. 2-3.
19. Ibid, pp. 102-106.
20. Ibid, pp 125-127.

Asst. Professor
Dept. Non-Violence Anuvrat & Peace Studies
Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun-341 303 (Rajasthan)

निष्फल है

ज्ञान बिना क्रिया ।

क्रिया बिना ज्ञान ।

दान बिना धन ।

क्षमा बिना तप ।

विनय बिना विद्या ।

With Best Compliments From :

Shri Balchandji Bhansali

C/o Bhansali Jewellers

86, Canning Street

CALCUTTA-700 001

नवीनता की सार्थकता

नई सदी का प्रवेश नए संकल्पों के साथ हो,
तभी इस 'नया' शब्द की सार्थकता हो सकती है।

1. मैं संयमप्रधान जीवनशैली का विकास करूँगा।
2. मैं समताप्रधान जीवनशैली का विकास करूँगा।
3. मैं सदाचारप्रधान जीवनशैली का विकास करूँगा।

ये तीन संकल्प नई शताब्दी अथवा नई सहस्राब्दी में
विद्यमान इस 'नया' शब्द को सार्थकता दे सकते हैं।

- अनुशास्ता आचार्य महाप्रज्ञ

With Best Compliments From :

PRAKASH BAID

BAID (INDIA) PRIVATE LIMITED
CARNATION FINANCIAL SERVICES LIMITED

(Member National Stock Exchange of India Limited)

9, India Exchange Place, 5th Floor, Calcutta-700 001
Phone : (T) 2214144 (Dir.), 220-5337/3678; (R) 479-2764
Fax : 91-33-221-4144